दर्शन की एक धारा तो वह है जो शापनेहावर और नीत्शे से प्रभावित होती है। वह बुद्धि को गौण रूप में मानकर उस प्राणवान अनुभव की मूल प्रक्रिया की ओर दर्शन का ध्यान मोड़ने की कोशिश करती है जो सब विचार के मूल में है और जो उससे स्वतन्त्र रूप में अबाध बहती है। इस प्रकार वे दर्शन को उस सतत् अनुभव के प्रवाह के साथ सम्बन्धित करने की चेष्टा करते हैं जिसमें कि हम सब अधिकांश क्षणों में जीते हैं। 20वीं सदी के दर्शन की दूसरी धारा गणित, तर्क और विज्ञान के नये आयामों से उत्पन्न होती है। बुद्धि के विशाल प्रासाद में नए खण्ड़ और मंज़िलें बनती हैं और दर्शन की यह विधा उनका महत्त्व समझने में ही अपना चरम लक्ष्य मानती है। दोनों धाराओं में कोई सामञ्जस्य अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ है परन्तु कोई भी विचारशील व्यक्ति आधुनिक दर्शन के इन दोनों क्षेत्रों में उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं कर सकता। पश्चिमी दर्शन का लम्बा इतिहास जो ग्रीक काल से शुरू होकर अब तक सतत् प्रवाहमान रहा है और जो अब एक प्रकार से विश्वदर्शन का रूप ले रहा है वह क्या और नई दिशाएँ लेगा, यह कहना कठिन है। इससे भी कठिन शायद इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना है कि भारतीय और चीनी दार्शनिक परम्पराओं का आधुनिक युग में क्या स्थान रहेगा और वे आजकल के दर्शन को किस प्रकार प्रभावित करेगी। यह कम से कम उन दार्शनिकों के लिए जो इन संस्कृतियों के उत्तराधिकारी हैं, महत्त्वपूर्ण प्रश्न के रूप में तो उत्पन्न होता ही है, परन्तु इसका इससे भी गहरा सम्बन्ध इन संस्कृतियों के भविष्य से जुड़ा है।

❑

डेकार्ट से डेरिडा तक

पश्चिमी दर्शन का आधुनिक युग, जैसा सबको पता है, दो विभिन्न, दो परस्पर विरोधी धाराओं से उत्पन्न होता है। एक वह जो योरोप के पश्चिमी महाद्वीप में विकसित हुई, या और ठीक से कहें तो सिर्फ फ्रांस और जर्मनी में। दूसरी धारा इंग्लैण्ड में विकसित हुई जो एक तरह से तो योरोप का ही अंग है पर उससे बिल्कुल ही अलग-थलग।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट को इस नये युग का प्रथम दार्शनिक माना जाता है और उन्होंने चेतना को, या कहें आत्म-चेतना को मूल सत् माना और इसी से सारी और सत्य प्रतीत होने वाली अनुभूत जगत् की सत्यताओं को इसी पर आधारित करने की कोशिश की।

इसके विपरीत ब्रिटिश दार्शनिकों ने जो इन्द्रियों से ग्रहण होता है, उसको ही मूल रूप से सत् माना, और उसी के आधार पर अपना दार्शनिक प्रासाद खड़ा करने की कोशिश की।

डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइब्नित्ज़ का नाम प्रसिद्ध है जिनमें से एक फ्रांस का निवासी था, दूसरा हॉलैण्ड का और तीसरा जर्मनी का। इसी तरह इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिकों का नाम लॉक, बर्कले और ह्यूम सबको सर्वविदित है।

सबसे अजीब बात तो यह थी कि इतने परस्पर विरोधी प्रस्थान-बिन्दुओं से चलकर भी वे लोग कुछ एक-सी ही जगह पहुँचे। लॉक ने इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले गुणों में एक मूलभूत भेद किया जो कि प्राथमिक और द्वितीयक गुणों के नाम से जाना जाता है। इस भेद के अनुसार जो भी अनुभव हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है वो मूल रूप से सत् नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से मिलने वाले रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सब इन्द्रिय सापेक्ष हैं। इसके विपरीत जो परिमाणात्मक गुण हैं यानि जो हमें गणित की प्रक्रियाओं से प्राप्त होते हैं, वही वास्तव में सत्य हैं। बर्कले ने इस भेद को समाप्त करने की चेष्टा की और कहा कि चाहे गिनकर या नाप कर जो सत्य हमें प्राप्त होता है, और जो रूप, रस, गंध, स्पर्श और इन्द्रियों से प्राप्त होते हैं, उनमें मूल भेद नहीं है।

ह्यूम ने इसका निष्कर्ष यह निकाला कि जो हमें सहज अनुभूत होता है वो केवल एक मानसिक शृंखला मात्र है जिसमें आपस में एक ही सम्बन्ध है; एक पहले होता है और दूसरा बाद में।

डेकार्ट ने लॉक जैसी बात कही थी, उसने जो चरम सत् है या सत्ता है उसको दो भागों में बाँटा; एक वह जो देश या स्थान में स्थित है और जिसको हम ज्यॉमेट्री द्वारा नापकर पकड़ते हैं। ये बात कुछ-कुछ लॉक जैसी ही है। दूसरी ओर उसने जो सहज अनुभूत होने वाली चेतना की उस प्रक्रिया को सत् माना जिसमें आत्म-चिन्तन या विचार होता है। एक तरह से ये कुछ ह्यूम जैसी बात थी, हालांकि उनमें बहुत भेद है, स्पिनोज़ा ने यह कहकर डेकार्ट के मूलभूत भेद को समाप्त करने की कोशिश की कि वास्तव में जो सत् है उसको न हम आत्म-चेतना के रूप में मान सकते हैं और न उसे गणित पकड़ती है, वो तो इन दोनों से परे है पर, उसको हम दो ही प्रकार से समझ सकते हैं। या तो हम ये कहें कि उसमें अनगिनत गुण हैं और उनमें से हम केवल उन्हीं दो को जानते हैं जिनकी बात डेकार्ट ने की थी, या दूसरी ओर उसका अपना गुण है ही नहीं, पर हम ऐसा कहते हैं कि 'वो ऐसा है' या 'वो वैसा है।' स्पिनोज़ा ने कुछ और भी बातें कहीं, उनकी यहाँ चर्चा अवान्तर है। लाइब्नित्ज़ ने अपने विचार में इस दोष को पूर्ण रूप से समाप्त किया और कहा कि जो भी सत् है वह चेतना का केन्द्र है और चेतना वास्तव में हमेशा सक्रिय है। उसके दो पक्ष होते हैं एक वो जो इस क्रिया का केन्द्र है, और दूसरा वो जो उसका विषय होता है,जो उस चेतना का या उसके विचार का विषय होता है और जिसे वह निरन्तर स्पष्ट करने की, समझने की चेष्टा करती रहती है।

डेकार्ट की बात को उसने नये तरह से रखा और जो लॉक, बर्कले, ह्यूम ने कहा था उसको नयी तरह से देखा और चेतना के स्वातन्त्र्य की बात कर्तृत्व में रखी, ज्ञातृत्व में नहीं। यही नहीं, उसने सोचने की या चिन्तन की प्रक्रिया को एक नये रूप में देखा, लेकिन ये नया रूप भी ज्ञान-केन्द्रित ही था, शक्ति-केन्द्रित नहीं। संसार को बदलने की बात न ब्रिटिश दार्शनिकों में है, न योरोप के इन दार्शनिकों में।

लाइब्नित्ज़ के बाद जर्मनी का दार्शनिक चिन्तन एक नया मोड़ लेता है, जिसका प्रारम्भ कांट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न'** में करते हैं। वो पहली बार यह सवाल उठाते हैं कि इन्द्रियों से जानने का अर्थ क्या होता है और बुद्धि द्वारा किसी चीज को जानने का अर्थ कैसे समझा जाये। वो लॉक और डेकार्ट दोनों की बात को, नये तरीके से रखते हैं। पहला इन्द्रियों से ग्रहण होने वाला बाह्य जगत् विस्तार या देश में अनिवार्य रूप से अवस्थित होता है, यानि हम हमेशा यह कहते हैं 'वो यहाँ है' और 'अब है'। 'अब' की बात उन्होंने और तरह से की। यह कहकर कि मनुष्य अपनी अन्तर इन्द्रिय द्वारा मानसिक

क्रियाओं को देखता है, वो देश में न होकर काल में अवश्य होती हैं, उनमें 'पहले' और 'बाद' का भेद होता है। ह्यूम ने यह कहा था, पर उसने इसका महत्त्व नहीं समझा। कांट इसको इस प्रकार रखते हैं कि आत्म चेतना का क्रिया-रूप काल रूप है और इसको गणित एक, दो, तीन करके पकड़ती है, उसी प्रकार जैसे बाहर की इन्द्रियाँ उसको पकड़ती हैं जो देश में अवस्थित है और इस तरह कांट ने यह बताने की चेष्टा की कि सारा प्रत्यक्ष ज्ञान चाहे वो अन्दर का हो या बाहर का, देश और काल में होता है। यानि उनके साथ हमेशा यह जुड़ा रहता है कि ये 'यहाँ है' और 'अब है'। इसीलिए कांट का कहना था कि जो कुछ भी इन्द्रियों से बाह्य या आन्तर अनुभूत होता है उसके बारे में गणित का ज्ञान अनिवार्य रूप से सत् होता है क्योंकि उसकी शर्त यह है कि वह देश और काल में स्थित हो। देश और काल प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्व मान्यताएँ हैं, इसलिए इनका ज्ञान विषय रूप न होकर, अनुभव सिद्ध न होकर अनुभव की पूर्वापेक्षा है। इसको समझे बगैर गणित का प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्ध समझ ही नहीं सकते।

कांट ने यही बात बौद्धिक ज्ञान के बारे में नयी तरह से कही। उसने कहा कि आखिर मनुष्य जिसे जानना कहता है या 'ज्ञान' कहता है उसका स्वरूप क्या है। वो हमेशा यही कहता है कि 'यह है' या 'यह नहीं है'। दूसरी बात जो वो हमेशा कहता है कि 'यह क्या है' और 'यह क्या नहीं है'। तीसरी बात जो वो कहता है कि 'यह जो है' या 'यह जो नहीं है'। और यह क्या उन सारी वस्तुओं के बारे में है जिनके ज्ञान की चर्चा की जा रही है, या उनमें से कुछ के बारे में है या 'एक' के बारे में।

इसी तरह उसने ये कहा कि जब हम ये कहते हैं कि 'यह' है, तो इन दोनों 'यह' और 'है' के बीच में क्या सम्बन्ध होता है। इसी तरह उसने पूछा कि जब हम ये कहते हैं कि 'यदि यह है, तो वह भी है, या होगा', तो इनके बीच सम्बन्ध क्या है। इसी तरह उसने ये कहा कि जब हम यह कहते हैं कि 'या तो यह है या नहीं है', तो ये सम्बन्ध किस प्रकार का होगा। कांट ने इसका उत्तर यह देकर कहने की कोशिश की कि पहला सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है जिस प्रकार का सम्बन्ध भारतीय दर्शन में 'समवाय' के नाम से जाना जाता है और जिसको उसने 'Inherence' कहा। दूसरे प्रकार के सम्बन्ध को उसने कार्य-कारण की कोटि में रखा और तीसरे को 'Reciprocity' या परस्परता के सम्बन्ध का नाम दिया।

इसी तरह उसने ये भी सवाल उठाया कि जब हम यह कहते हैं कि 'ऐसा है' या 'ऐसा हो सकता है' या 'ऐसा ज़रूर होगा' या 'ऐसा होना अवश्यम्भावी है' तब इन सम्बन्धों को किस प्रकार समझा जाये। पहले को उसने 'Actuality' का नाम दिया, दूसरे को 'Possibility' का, और तीसरे को 'Necessity' का। जो वर्तमान में है, उसकी सत्ता से कौन इन्कार कर सकता है, और जो अभी नहीं हुआ है, उसकी सम्भावना को कौन नहीं मानेगा। तीसरा सम्बन्ध, जिसको उसने

अनिवार्यता के रूप में देखा, उसको समझना मुश्किल है, लेकिन अगर हम कार्य-कारण के सम्बन्ध को समझने की कोशिश करें तो उसमे यह अनिवार्यता स्पष्ट रूप से समझ में आती है। अगर 'कारण' है तो कार्य भी अवश्य घटित होगा। 'कर्म' है तो उसका फल भी ज़रूर होगा, आप भोगना चाहें, या ना चाहें।

कांट ने बुद्धि के स्वरूप का जो वर्णन किया, वो दर्शन के इतिहास में विलक्षण है, और उसका असर इतना गहरा और सर्वव्यापी है कि उसको आँकना मुश्किल है।

ये ठीक है कि ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने कुछ-कुछ ऐसा ही कहा था, परन्तु उसकी बात में और कांट की बात में जमीन-आसमान का अन्तर है। अरस्तू ने अपने चिन्तन को केवल उन्हीं दो तरह के वाक्यों तक सीमित रखा था जो एक ओर यह कहते हैं कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है'। दूसरी ओर उसने यह भी माना था कि वाक्य को वाक्य होने के लिए हमें यह कहना पड़ेगा कि 'जो है' वह सब के लिए सच है या कुछ के लिए सच है या किसी वस्तु विशेष के लिए। इनको अंग्रेजी में 'Quality' यानि 'Affirmation' या 'Negation' और 'Quantity' यानि 'All' or 'Some' or 'this' के नाम से समझा गया। कांट ने इनमें जिनको उसने Category of Relation कहा और Category of Modality कहा और जोड़ा, हालांकि ग्रीस, विशेषकर स्टोइक दर्शन में इसका आभास मिलता है।

कांट के इस गहन विश्लेषण के बाद यह बात स्वत: सिद्ध मानी जाने लगी कि बुद्धि से जो ज्ञान होता है उसकी अनिवार्यता और उसका यह गुण कि वो हर उस प्राणी के लिए जिसमें 'बुद्धि' है वह उसको उसी प्रकार देखेगा, लोगों की कुछ-कुछ समझ में आने लगा। अंग्रेज़ी में इसको 'Objectivity' और 'Universality' के नाम से जाना जाता है और ज्ञान के सम्बन्ध में इस मूल समस्या का उत्तर देने की चेष्टा करता है कि ज्ञान 'मुझे होता है' या 'मेरा है', सच नहीं हैं। अगर वो 'ज्ञान' है तो मनुष्य मात्र के लिए ज्ञान होगा, चाहे वो मनुष्य भूतकाल में हुआ हो या वर्तमान में या भविष्य में। 'ज्ञान' का यह गुण बुद्धि के अपने स्वरूप से उत्पन्न होता है। वो बुद्धि जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है और इसीलिए अरस्तू ने आदमी को 'Rational Animal' के रूप में परिभाषित किया या भारतीय चिन्तन की शब्दावली में कहें तो 'बुद्धि' उसका व्यावर्तक गुण है।

भारतीय मनीषा ने इसके विपरीत मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण बुद्धि में न मानकर, 'धर्म' में माना और मनुष्य को इस तरह परिभाषित किया कि वो ऐसा प्राणी है जो अच्छे-बुरे का भेद, शुभ-अशुभ में भेद करता है जो किन्हीं अन्य प्राणियों में नहीं पाया जाता। अगर इन दो व्यावर्तक लक्षणों की ओर हम ध्यान दें तो पश्चिमी और पूर्वी परम्परा के भेद के बारे में कुछ गहराई से समझ सकेंगे।

पश्चिम का दार्शनिक चिन्तन 'ज्ञान-केन्द्रित' है जबकि भारत का चिन्तन 'कर्म-केन्द्रित' या 'पुरुषार्थ-केन्द्रित' है।

ऐसा नहीं है कि पश्चिम में धर्म या 'जो करना चाहिये' उस पर चिन्तन ही नहीं हुआ। उस पर भी बहुत चिन्तन हुआ है पर वो कुछ और तरह का है। उसका सम्बन्ध राजनीति से है, समाज से है, और मनुष्य की उस संकल्प शक्ति से है जिसके द्वारा वो उस प्रकार का कर्म करता है जो केवल मनुष्य ही कर सकता है, और जिसके कारण उसे उस कर्म के प्रति उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ता है। स्वातन्त्र्य की चर्चा पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में बहुत है, पर ये स्वातन्त्र्य कर्म-केन्द्रित है, मोक्ष-केन्द्रित नहीं।

कांट ने इस पर भी बहुत विचार किया और उस प्रत्यय पर भी जिसे हम 'सुन्दर' का नाम देते हैं, पर उसकी चर्चा अभी हम यहाँ नहीं करेंगे, हालांकि ये कहना ज़रूरी है कि कांट में कर्म और ज्ञान के बीच इतनी गहरी खाई है जिसको वो कभी स्वयं 'पाट' नहीं सका। ज्ञान की पूर्वमान्यता कार्य-कारण सम्बन्ध है और उसमें एक अनिवार्यता होती है, पर इसके विपरीत मनुष्य के कर्म की पूर्व मान्यता 'स्वातन्त्र्य' है जिसके बगैर मनुष्य के कर्म को 'कर्म' कहा ही नहीं जा सकता।

कांट का विचार इतना सूक्ष्म और गहरा है कि उस पर जितना भी सोचा जाये, कम है और जर्मनी में उसके आने के बाद दर्शन की ऐसी बाढ आई जिसका दर्शन के इतिहास में कोई मुकाबला नहीं है। एक के बाद एक ऐसे दार्शनिक हुये जिनकी गहरी छाप दर्शन पर अमिट सी लगती है।

कांट के बिल्कुल बाद फिख्टे का नाम आता है, जिसका दर्शन इतना जटिल और दुरूह लगता है कि उसको समझ पाना कम से कम मेरी राय में मुश्किल है। कांट स्वयं कोई आसान चिन्तक नहीं है पर फिख्टे उससे एक कदम आगे ही लगता है, शायद इसलिए कि वो कांट के दर्शन को अपनी पूर्व मान्यता मानकर चलता है।

फिख्टे के दर्शन का प्रारम्भ बिन्दु एक तरह से वही है जो डेकार्ट का था, पर उससे बिल्कुल अलग। डेकार्ट ने कहा था कि 'मैं सोचता हूँ' या 'I think' या 'I doubt', जबकि फिख्टे ने अपने विचार का प्रारम्भ यह कहकर किया 'I am'। कम से कम इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि 'मैं हूँ'। इसमें फिख्टे यह नहीं कहते कि इस विचार से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। उसके लिए ये कोई Ontological argument नहीं है जैसे डेकार्ट के लिए था। न यह वैसा है जैसा शंकर के लिए 'अहम्' प्रत्यय था। वो तो सिर्फ इतना ही कहना चाहता है कि चिन्तन के साथ ही 'अहम्' भाव जुड़ा हुआ है। कम से कम उस प्राणी के लिए जो आत्म चेतन है और आत्म चेतना के द्वारा ही चिन्तन करता है।

लेकिन इसके बाद जो वो कहता है वो न तो शंकर ने कहा, न डेकार्ट ने, हालांकि उसकी धुँधली सी झलक इनके विचारों मे पायी जा सकती है। फिख्टे के लिए 'अहम्' या 'I' शब्द का प्रयोग ही उसको भी सत्ता देता है जो अहम् नहीं है जो not-I है। अब फिक्टे के विचार की गहराई इस तरह समझी जा सकती है कि इस प्रस्थान-भेद से उसने जो बात कही, वो बात न शंकर ने कही, न डेकार्ट ने, और न किसी और ने कही। उसका कहना था कि यह not-I या जो अहम् नहीं है, वो अहम् को उसी प्रकार सीमित करता है जिस प्रकार अहम् या 'I' उसको सीमित करता है जो अहम् नहीं है या not-I है।

ये परस्पर आश्रितता अजीब है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे को सीमित करते हैं पर इसको भी उसने एक नयी तरह से देखा, उसके देखने का ढंग ये था कि अगर कोई भी चीज किसी भी दृष्टि से सीमित होती है तो उसमें हमें ये गुण मानना पड़ेगा कि उसमें सीमित होने की शक्ति थी और इसी प्रकार जो किसी को सीमित करता है उसमें दूसरे को सीमित करने की शक्ति है। लेकिन इस बात को पूरी तरह तभी समझा जा सकता है जब हम इन दोनों शक्तियों के परस्पर भाव के अन्तर को देखें। अंग्रेज़ी में शायद इसको ज़्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है; जो सीमित करता है वो active है और जो सीमित होता है वो Passive है, लेकिन passivity is also a kind of activity and activity has also a passive element in imagated Mutual 'passivity' and 'activity'. कहने का अर्थ यह है कि फिख्टे के लिए जो 'अहम्' और 'अहम् नहीं' है, का सम्बन्ध बराबरी का है। ऐसा नहीं है कि एक का पलड़ा भारी हो और एक का हल्का।

इससे भी और जो नयी बात फिख्टे के विचार में मिलती है वो यह है कि न 'अहम्' की सीमा 'सीमित' है और न जो 'अहम् नहीं' है, उसकी सीमा 'सीमित' है। जो 'अहम् नहीं' है वो क्षितिज रूप में है। जैसे-जैसे 'अहम्' का विस्तार होता है, वैसे-वैसे जो 'अहम् नहीं' है, पीछे हटता जाता है लेकिन उससे वह खत्म नहीं हो जाता। मनुष्य ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में सतत आगे बढ़ता है पर ये आगे बढ़ना ही not-I को पीछे धकेलता तो है, लेकिन वो रहता है और कहता है कि अभी बहुत कुछ जानने को बाकी है। तुम क्या समझ बैठे कि तुमने जो जानना था, जान लिया, जो करना था, कर लिया।

कांट के समान ही फिख्टे के दर्शन में भी दो परस्पर विरोधी धाराएँ मिलती हैं। एक ये कि जो 'अहम्' है और जो 'अहम् नहीं' है, उसको ज्ञान के रूप में देखा जाये या कर्म के रूप में। कर्म के रूप में देखने पर उस सत् का क्या होगा जिसे शंकर जगत् कहते हैं या जो सांख्य के पुरुष के लिए प्रकृति रूप में होती है। ज्ञान का प्राधान्य है या कर्म का। ये बात कांट ने उठाई थी पर जवाब नहीं दिया। यही बात फिख्टे ने भी कही, पर जवाब नहीं दिया।

फिख्टे के बाद जर्मनी में दार्शनिक तो बहुत होते हैं, कुछ कांट के विरोधी और कुछ कांट के शिष्य लेकिन सबका केन्द्र बिन्दु कांट का ही विचार था। इनमें शैलिंग का नाम हमेशा लिया जाता है, परन्तु इनमें जो सबसे बड़ा दार्शनिक था और जिसे बहुत लोग कांट से बढ़ कर मानते हैं, उसका नाम हेगेल था। हेगेल का कहना था कि कांट की मूलभूत गलती यह थी कि उसने ज्ञान को इस प्रकार देखा जैसे वो अपने आप में सम्पूर्ण है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। बुद्धि का स्वरूप ही ऐसा है कि वो अपने को सम्पूर्णता प्रदान करती है।

बुद्धि के स्वरूप को समझने की उसकी चेष्टा जिसे आज 'Dialectic' के नाम से जाना जाता है और उसके अनुसार बुद्धि में 'ये है', 'ये नहीं है', को उत्पन्न करता है। एक तरह से ये बात फिख्टे ने कही थी पर हेगेल ने न कांट को माना और न फिख्टे को। हेगेल ने अपनी बात ऐसे रखी जैसे उसके पहले कोई दार्शनिक नहीं हुआ हो, पर यह ठीक है। उसने जिस रूप में 'Dialectic' की बात की, वह विचार की निरन्तर गतिशीलता की बात थी, वैसा पहले कभी नहीं किया गया। इसका एक कारण यह था कि उसने बुद्धि के इस चिरन्तन गतिशील स्वरूप को जिसमें निषेध अनिवार्य रूप में अन्तर्निहित है और उस निषेध के द्वारा ही विचार आगे बढ़ता है, एक बात और जोड़ी कि निषेध का निषेध यानि Negation of negation does not give you the affirmation which was by the negation but something 'new' which was not contained before in it.

इसका मतलब ये था कि हेगेल ने बुद्धि और तर्क के बारे में जितनी मान्यताएँ उसके होने के पहले सब मानते थे, उन सबको नकार दिया और ये कहा कि बुद्धि का स्वरूप, या उसका अपना रूप न तो अरस्तू समझा था और न कांट। बुद्धि, उसके अनुसार, चिन्तन की ही प्रक्रिया का दूसरा नाम है, ऐसा चिन्तन जो हमेशा उससे असन्तुष्ट रहता है, जिसे वो चिन्तन के द्वारा प्राप्त करता है; यह प्रक्रिया एक तरह से अनन्त है, क्योंकि जो 'सोचने' से मिलता है वो चेतना के लिए 'विषय' रूप में प्रस्तुत होता है और जो भी विषय रूप में है उसमें बुद्धि को भी और चेतना को भी कुछ न कुछ कमी हमेशा दिखाई पड़ती है।

हेगेल ने यह बात इस तरह नहीं कही थी, पर उसके विचार के मूल में ये अन्तर्निहित जान पड़ती है। उसको तो, ऐसा लगा कि बुद्धि के इस स्वरूप और प्रक्रिया के द्वारा वो समस्त सम्पूर्ण सत् को समझ सकता है, और इसलिए ऐसा लगता है कि उसने वही गलती की जो उसके पहले के दार्शनिक कर चुके थे और वो गलती ये थी कि बुद्धि के द्वारा 'सब कुछ' जाना जा सकता है, और इसीलिए उसने इस चिन्तन की प्रक्रिया को जो बुद्धि का ही अपना अभिन्न अंग या स्वरूप थी, उसका अन्त माना और अपने दर्शन में इसको 'Absolute Idea' का नाम दिया, लेकिन ये नाम भ्रान्तिपूर्ण है। वो जो कहना चाहता है, वो कुछ अलग है। उसकी आखिरी Dialectic Art और Religion में है और जिसे हम फिलसफा या

दर्शन कहते हैं, वो इन दोनों को अपने में समन्वित रूप में समाहित करता है। कला और जिसे हम आज Religion कहते हैं, उसके बारे में इस प्रकार सोचना अद्‌भुत है, हालांकि इस पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

हेगेल के विचार की कहानी लम्बी और अद्‌भुत है। यह शुद्ध निर्गुण सत् या Being से शुरू होकर अपनी अनन्त यात्रा के बाद इस Absolute Idea में समाप्त होती है। वैचारिक यात्रा का ये इतिहास उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ Phenomenology of Spirit में मिलता है, लेकिन उससे भी अच्छा इसका रूप उसकी Science of Logic में देखने को मिलता है।

हेगेल का विचार इस तक ही सीमित नहीं था, उसने दार्शनिक चिन्तन में पहली बार ये कहने की कोशिश की कि मनुष्य का इतिहास, हर क्षेत्र में इसी कहानी को दोहराता है, क्योंकि इतिहास, संस्कृति या सभ्यता मनुष्य की अपनी रचना है और मनुष्य बुद्धि केन्द्रित है, हालांकि उसकी 'बुद्धि' वो नहीं है जैसा उसे अरस्तू ने या कांट ने समझा था।

सारे मनुष्य के इस इतिहास को इस दृष्टि से देखना बिल्कुल नयी बात थी और इसका असर इतना गहरा हुआ कि इसके बाद इतिहास को इसी दृष्टि से देखा जाने लगा। मार्क्स ने इस दृष्टि को नया रूप दिया, मार्क्स ने ही नहीं अनेक अन्य इतिहासकारों ने कुछ-कुछ ऐसा ही करने की कोशिश की, हालांकि उसे इस प्रकार से समझा नहीं जाता। पश्चिम के इतिहास में जिसे रेनेसाँ, रिफार्मेशन, एनलाइटनमेन्ट, या मॉर्डनिटी कहा जाता है, वो कुछ-कुछ पश्चिम की संस्कृति और सभ्यता की इसी प्रकार की कहानी है। टॉयन्वी जैसे इतिहासकार ने सारी सभ्यता और संस्कृति इसी रूप में देखी है जिसकी परिणति वो ईसाई धर्म में देखता है। इससे बड़ी बेवकूफी क्या हो सकती है, पर जब मार्क्स उसे Capitalism, Socialism और Communism का नाम देता है तो जो लोग अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं, प्रशंसा करते नहीं अंघाते। यही नहीं, आज बुश और ब्लेयर जो कहते हैं, उसमें भी इस तरह की धारणा साफ दिखाई देती है कि अब हम इतिहास के उस मोड़ पर पहुँच चुके हैं, जहाँ इतिहास की समाप्ति हो चुकी है। अमेरिका में Rorty जैसे विचारक खुल्लम खुल्ला कहते हैं कि जो अब है उससे अच्छा हो ही नहीं सकता। फूकोयामा जैसे विचारक ने इतिहास के अन्त की ढोल पीटकर घोषणा भी कर दी। ये सब लोग हेगेल से कितने प्रभावित हैं, ये इनको पढ़ने वाला ही जान सकता है, क्योंकि ये हेगेल वही है, जिसने जब नेपोलियन ने ज़ेना पर आक्रमण किया था तो कहा था "I have seen the absolute the white charger"। अब बताइये ऐसे दार्शनिक का क्या करें जो समझते हैं कि उनके साथ ही, और जहाँ वो हैं, दर्शन की इस अनन्त प्रक्रिया की समाप्ति हो गई है।

वास्तव में जैसा हमने पहले कहा था हेगेल वही भूल करता है जो शायद सभी दार्शनिक करते हैं। वे समझते हैं कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा जो चरम सत् है उसको

जाना जा सकता है और अगर उसे इतिहास के कालक्रम में जानना है तो इतिहास में भी वही हुआ है और होगा जो शुद्ध बुद्धि कहती है।

हेगेल के आगे की कहानी और भी अजीब है, हालांकि उस पर इतना ध्यान नहीं दिया गया। शुद्ध बुद्धि की बात करते-करते दार्शनिक थक चुके थे और उन्हें लगा कि इससे बड़ा प्राणहीन चिन्तन कोई हो ही नहीं सकता। अगर प्राण को या जो सतत जीवन की प्रकिया है, मरने और जीने के चक्र में अभिव्यक्त होती रहती है, क्या वही सत् नहीं है। यहाँ बुद्धि बेचारी क्या करेगी; अगर मनुष्य का शरीर ही ठीक नहीं है और ये शरीर का ठीक होना, ये जिजीविषा, अनन्त तृष्णा बार-बार उत्पन्न करती है। अपने को बनाये रखने की चेष्टा और मृत्यु का सामना करती है, ये क्या है।

शोपेनहावर ने ये प्रश्न अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The World as Will and Idea' में पूछा, जिस पर कम ध्यान दिया गया है, क्योंकि लोग कांट और हेगेल के चक्कर में पड़े रहे। उसका कहना था कि भारतीय दर्शन में जिसे जिजीविषा या तृष्णा या अनादि वासना कहा गया है, वही सत् का मूल रूप है, पर इसी में बुद्धि जागृत होती है, चिन्तन जागृत होता है जो उसे दूसरी दृष्टि से देखता है और उससे अपने को विलग ही नहीं पाता, उसे अपना दुश्मन भी मानता है। शरीर से कौन तंग नहीं आया होगा, खास तौर पर दार्शनिक और मन से भी सब लोग परेशान हैं, क्योंकि मन इच्छा का संसार है जिसको भारतीय परम्परा में 'काम' कहा गया है। 'काम' या जिसे desire कहते हैं उससे और जीने की मजबूरी से सब लोग तंग आये हुये हैं, खासकर वे लोग जो बुद्धि-केन्द्रित हैं और जो इस सबको विषय रूप में देखते हैं, उनके लिये संसार का कोई अर्थ नहीं हैं, और सत्य की प्राप्ति के लिए इससे मुँह मोड़ना है, इसको त्यागना है। यही तपस्या, ज़िन्दगी को नकारने का, काम को पूर्ण रूप से हटाने का प्रयास बुद्धि करती है या भारतीय सन्दर्भ में कहें तो प्रज्ञा करती है। उसके अनुसार यही मूलभूत भेद मनुष्य का जो जीवन है, उसको परिभाषित करता है। एक तरफ Will to live है, Will to survive है और दूसरी तरफ Will to get rid of this bondage, इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा। यही बात शायद थी जो उसे भारतीय चिन्तन में बहुत भायी और उसने उपनिषदों के बारे में जो कहा है वो इस बात को ही सूचित करता है।

शोपेनहावर के बाद जर्मनी में फिर एक ऐसा विचारक हुआ जो कई लोगों की राय में आज की दार्शनिक अवस्था के मूल में है; उसका नाम नीत्शे था। नीत्शे ने कहा कि शोपेनहावर की सबसे बड़ी भूल ये थी कि उसने Will या संकल्प-शक्ति को केवल 'Will to live' के रूप में देखा। प्राण खाली जिजीविषा ही नहीं है, वो केवल जीना ही नहीं चाहता, वो तो सबको अपने अधीन करना चाहता है। वो शक्ति का स्रोत है, शक्ति का केन्द्र, जिसके लिए अच्छे-बुरे का भेद अन्तिम भेद नहीं है, क्योंकि वो शुद्ध शक्ति की साधना मात्र ही है। इसको

उसने 'Will to Power' का नाम दिया और उसने ऐसे मनुष्य की कल्पना की जो सब बन्धनों से रहित होकर अपने को स्वतन्त्र महसूस करता है, उस अर्थ में नहीं, जिसकी आध्यात्मिक लोग बात करते हैं या बुद्ध जिसके प्रतीक हैं, बल्कि उस तरह की स्वतन्त्रता की बात जो योग सूत्र के सिद्धि पाद में कही गई है। मनुष्य की चेतना शक्ति चाहती है, और शक्ति का एक अर्थ यह होता है कि वो किसी धर्म के बन्धन से बँधी नहीं होती, इसीलिए उसने ईसाई और बौद्ध चिन्तन की भर्त्सना की और कहा जो कायर, कमजोर होते हैं, कुछ नहीं कर सकते, उनके लिए ये आदर्श रूप में प्रस्तुत होते हैं। ईसा सूली पर हों या बुद्ध ध्यान मुद्रा में, मनुष्य का ये आदर्श कभी नहीं हो सकता। एक तरह से ये बात कम से कम भारतीय परम्परा में अध्यात्म के क्षेत्र में भी कही गई है। धर्म को छोड़कर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' अर्थात् यदि सारे धर्मों को छोड़ दें। 'त्रैगुण्यविषयावेदा, निष्त्रैगुण्यो भवार्जुना' ये बात युद्ध के सन्दर्भ में कही गई थी और इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि जिन्होंने ये कहा था उन्होंने संधि के लिए क्या नहीं किया।

नीत्शे का प्रभाव सर्वव्यापी है और बहुत से तो Post modern युग का प्रवर्तक भी उसे ही मानते हैं। यही नहीं, जिसे existential thinking कहा जाता है, उसमें भी उसका योगदान है। नीत्शे की मृत्यु 1900 में हुई और उसके साथ ही दर्शन का एक अध्याय समाप्त होता है। उसकी इस घोषणा से कि भगवान की मृत्यु हो गई है और अब मनुष्य मुक्त हो गया है, 'God is dead and now man has become free'।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी दर्शन के इतिहास ने एक नया मोड़ लिया और इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में हुई। एक तरह से ये दर्शन का स्वर्ण-युग माना जाता है, जिसमें अनेकानेक दार्शनिक हुए जिन्होंने दर्शन के प्रासाद को एक नयी नींव पर खड़ा करने की कोशिश की। इनके पहले कांट और हेगेल के प्रभाव में इंग्लैण्ड में कई दार्शनिक हुये जिनमें से ब्रेडले, ग्रीन और बोसांके के नाम प्रसिद्ध हैं। इस युग के इन विचारकों का भारत पर भी बहुत प्रभाव पड़ा और हीरालाल हलधर ने अपनी पुस्तक New Hegelianism में इसका बहुत अच्छा वर्णन किया भी है, यही नहीं, उसने हेगेल के दर्शन में एक मूल भ्रान्ति की ओर भी संकेत किया। उसका कहना था कि अगर हेगेल के विचार को सही दिशा में बढ़ाना है तो उसमें 'स्व' और 'पर' के बीच में जितने भी सम्बन्ध होते हैं, और उनमें जिस प्रकार के भी अनिवार्य परिवर्तन उनके स्वरूप के ही कारण होते हैं, वे तभी सार्थक रूप में समझे जा सकते हैं जब 'स्व' और 'पर' बराबर हों यानि यदि जो 'पर' है, जो दूसरा है वो किसी का विषय है तो जिसका वो विषय है, वो भी उसका उसी रूप में, उसी सत्यता में, उसी प्रामाणिकता में विषय है। भारतीय दर्शन का प्रारम्भ

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में कांट और हेगेल के प्रभाव में होता है, जैसा कि ब्रिटेन में हुआ था और कहीं-कहीं तो ये प्रभाव ब्रिटेन के माध्यम से ही हुआ था। जर्मन भाषा जानने वाले लोग तो शायद इने-गिने ही होंगे। नॉर्मन केम्पस्मिथ ने जो कांट की पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न' का अंग्रेज़ी अनुवाद किया, वही सबके लिए सुलभ था और उसी के आधार पर कांट को समझने की गहन चेष्टा भी हुई। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का नाम इन सबमें अग्रणी है, जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचार में कांट, वेदान्त और सांख्य का समन्वय करने की कोशिश की।

पर भारत में जब ये लोग कांट और हेगेल की परम्परा में ब्रिटेन के दार्शनिकों के माध्यम से प्रभावित हो रहे थे, वहीं खुद इंग्लैण्ड में इसका उल्टा हो रहा था और दार्शनिक क्रान्ति का प्रवर्तक साधारणतया मूर के उस लेख को माना जाता है जिसका नाम उसने 'Refutation of Idealism' रखा था। इसके बाद जर्मनी के योरोपीय दर्शन के खिलाफ एक आन्दोलन सा खड़ा हुआ जिसने ये बताने की कोशिश की कि उस प्रकार का विचार मूल भ्रान्तियों पर आधारित है और एक तरह से वो भाषा से भ्रमित होता है। इस सबमें जो सबसे अजीब बात है, वो ये है कि भाषा के जिस दोष को लेकर इंग्लैण्ड में इतना ज़बरदस्त काम हुआ, उसी को हेगेल जर्मन भाषा का प्राण ही नहीं मानता, बल्कि वो स्पष्ट रूप में अपनी Science of Logic में कहता है कि जर्मन शब्दों में अनेकार्थता और परस्पर विरोधी अर्थों का एक शब्द में एक साथ होना ही उसको दर्शन के लिए उपयुक्त बनाता है। ये बात हेगेल ने ही नहीं, बाद में हाइडेगर ने भी कही है।

भाषा को केन्द्र बनाकर दर्शन की इस लड़ाई ने धीरे-धीरे महायुद्ध का रूप लिया और पश्चिमी दर्शन का इतिहास दो भागों में विभक्त हो गया; एक वो जिसके समर्थक अधिकतर योरोप में थे, दूसरे वो जो इंग्लैण्ड या अमेरिका में थे।

इस चिन्तन के बहुत आयाम हैं, और हर एक पर प्रकाश डालना मुश्किल है, लेकिन एक बात साफ थी कि अगर भाषा को ज्ञान का माध्यम माना जाये और ज्ञान के लिए सत्य-असत्य का निर्णय ज़रूरी हो, तो भाषा का वो पक्ष ही दर्शन के लिए प्रधान होगा जो 'अभिधा' सम्बन्धित है। इसमें लक्षणा या व्यंजना की बात करने की कोई तुक ही नहीं है। इसके बाद सीधा सवाल ये पैदा हुआ कि किसी भी वाक्य की सत्यता या असत्यता के बारे में निर्णय कैसे हो, और इसका उत्तर यह कहकर देने की कोशिश की गई कि अगर ज्ञान केवल अपने ही लिए नहीं, बल्कि सबके लिए सत्य होने की प्रतिज्ञा करता है तो उसे किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित होना पड़ेगा जो कम से कम हर मनुष्य को सहज रूप में, आसानी से उपलब्ध हो सके, और ये बात केवल उन्हीं के बारे में है जिनका ज्ञान हमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से होता है। सब आदमियों के पास पाँच इन्द्रियाँ हैं और उनका जीवन व्यवहार इन्हीं के माध्यम से परिचालित होता है, और यही उस संसार को बनाती हैं, जिसमें सब मनुष्य एक से भागीदार होते हैं। दूसरे को 'लाल' दिखता है,

मुझे भी 'लाल' दिखता है, तीसरे को भी 'लाल' दिखता है। इसीलिए हम लाल रंग को उस संसार का प्रदत्त गुण मानते हैं जो हमसे स्वतन्त्र है। यह शायद ठीक है कि वो मनुष्य मात्र से स्वतन्त्र नहीं है; अन्य प्राणी उसे इस प्रकार नहीं देखते जिस प्रकार आदमी देखता है, लेकिन हम आदमी की दुनिया की बात करते हैं और उसी के सम्बन्ध में सत्य-असत्य की बात करते हैं और दर्शन की चर्चा भी।

इसलिए जब भी हम ज्ञान की बात करें तो सबसे पहली शर्त यह है कि जो जानने का दावा करता है, वो ये बताये कि वो जो कह रहा है वो सच-झूठ कैसे सिद्ध होगा। अगर वो यह बता ही नहीं सकता तो उसका वाक्य केवल व्यंजना मात्र है, वर्ण-समूह है उसमें कोई अभिधामूलक अर्थ नहीं है, अर्थ का आभास मात्र होता है। इसलिए ज्ञान का दावा करने वालों के लिए पहली शर्त यह है कि वो स्पष्ट रूप से बतायें कि उसको क्या सत्य या असत्य ठहरायेगा और इसके साथ ही उनको वो 'विधि' भी बतानी पड़ेगी, जिसके द्वारा वो उसके सच या झूठ का पता लगा सकता है।

2500 वर्ष से ज़्यादा हुए दार्शनिक चिन्तन पर इससे बड़ा प्रहार शायद कभी भी नहीं हुआ था। उस सबको जो Metaphysics के नाम से जाना जाता था, जिसमें ईश्वर आदि की चर्चा होती थी, चरम सत् की बात होती थी, इस विश्लेषण के अनुसार भ्रांतिपूर्ण ही नहीं, अपने आप में पूरी तरह अर्थहीन था। इन बातों में केवल अर्थ का आभास था। इससे बड़ी भ्रांति, भूल या माया क्या हो सकती थी। भाषा पर इस चिन्तन ने अनेक दिशायें लीं। मूर, रसल, विट्गेन्सटाइन, ऑस्टिन, राइल आदि के नाम सबको पता हैं और इनके विचार एक ही प्रकार के नहीं हैं। मूर ने समस्या को इस प्रकार उठाया जैसा शायद दर्शन के इतिहास में किसी ने भी नहीं किया था। उसने अपने उस लेख में जो उसने Contemporary British Philosophy में लिखा था, यह कहा कि मैं ये नि:सन्देह जानता हूँ कि मेरा जन्म हुआ था, और मेरे पहले भी हजारों वर्ष से दुनिया में, और आदमी भी थे, और मेरे चारों तरफ जो चीज़ें मुझे दिखाई देती हैं, वे सब भी मेरे से स्वतन्त्र हैं। वे सब नष्ट नहीं हो जाती जब मैं उन्हें देखता नहीं हूँ, सोचता नहीं हूँ। इस लेख का प्रारम्भ पढ़कर दर्शन के विद्यार्थी को इतना आश्चर्य होता है कि कोई भी दार्शनिक अपनी चर्चा इस प्रकार कैसे प्रारम्भ कर सकता है। दार्शनिक 2500 साल से ऐसी बेतुकी बातें कहते हैं और उनमें विश्वास भी करते हैं।

मूर के सामने समस्या यह थी कि ये सब स्वत: सिद्ध है और उसको ऐसा ही लगता है, तब ये 2500 साल की परम्परा ऐसी अजीब-अजीब बातें क्यों कहती है। आखिर ये लोग भी समझदार थे, सोचते थे फिर ऐसा उन्होंने क्यों कहा। मूर का कहना था कि जानते तो हम सब लोग हैं, चाहें न चाहें, पर जब हम इसे समझने की कोशिश करते हैं तो ऐसा लगता है कि हम जो जानते हैं वो वास्तव में 'जानना' नहीं है।

इस बात को समझना शायद मुश्किल लगे लेकिन मूर इस बात की ओर इशारा करना चाहता था कि अपने समझने को 'समझने' की प्रक्रिया में जो भी कठिनाई उत्पन्न हो वो उस समझने की सत्यता को प्रभावित नहीं करती। इसको उसने Philosophy of Common Sense का नाम दिया।

एक तरह से यह बात भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने भी कही थी, पर उन्होंने इसे दूसरी तरह रखा था। धर्मकीर्ति का प्रसिद्ध वचन है (यदा यदा विचारयन्ते, विशीरयन्ते तथा तथा) उनके कहने का आशय था कि विचार से पहले सब कुछ सहज, स्पष्ट, सीधा लगता है, पर जैसे ही आदमी सोचना शुरू करता है सब कुछ धीरे-धीरे बिखर जाता है, उसकी समझ उसे पकड़ ही नहीं पाती जिसे वो पकड़ने चला था।

मूर ने एक और बात की ओर दार्शनिकों का ध्यान दिलाया कि वे जो कहना चाहते हैं, और जो वो कहते हैं, उनमें अक्सर इतना भेद होता है जो दार्शनिक स्वयं नहीं जानते, या पहचानते। एरिस्टोटेलियन सोसायटी की मीटिंग में मूर के बारे में ये प्रसिद्ध था कि किसी भी पेपर को जो वहाँ प्रस्तुत किया जाता था, उसके बारे में उसके लिखने वाले से वो हमेशा ये सवाल पूछते थे कि तुमने जो कहा है उसका ये मतलब है, या ये मतलब है, या ये मतलब है। लेख का लिखने वाला परेशान हो जाता और धीरे-धीर उसे ये महसूस होने लगता था कि वो असल में जो बात कहना चाहता है वो या तो इतनी बेवकूफी की है कि उसे कह ही नहीं सकता या बिल्कुल गलत है।

मूर ने विचार के इस सूक्ष्म पक्ष की ओर अपने लेखों में भी ध्यान आकर्षित किया है। **प्रिन्सिपिया एथिका**, जो उसकी प्रसिद्ध पहली पुस्तक थी, उसमें उसने कई जगह यह दिखाने की कोशिश की है कि जो वो कह रहा है, उसे आपने वाकई में समझा है तो वो उसी बात को दूसरी तरह से कहता है तो अगर आपको लगे कि दोनों बातों में काई खास फर्क नहीं है, तो ध्यान से पढ़ने पर यह पता लगेगा कि उसने केवल एक शब्द में परिवर्तन किया है और इससे अर्थ में वो सूक्ष्म भेद लगने लगेगा वो जो वाकई में कहना चाहता था और जो आपने समझा था,उसमें जमीन-आसमान का अन्तर होगा। यह बात उसकी दूसरी पुस्तक **एथिक्स** में अधिक परिलक्षित होती है।

मूर ने दार्शनिकों का ध्यान जो भाषा की ओर दिलाया वो इतनी जल्दी दर्शन के जगत् में फैला कि लोग ये समझने लगे कि भाषा का विश्लेषण ही दर्शन का प्रधान कार्य है। इसमें कई लोगों ने योगदान दिया, जिनमें रसल, विट्गेन्सटाइन, राइल और ऑस्टिन प्रसिद्ध हैं।

रसल ने जो दर्शन के बारे में कहा उसमें अनेक बार उसने परिवर्तन किया पर एक बात जिसके लिए वो प्रसिद्ध है वो ये थी कि भाषा जो सामान्य की बात

करती है वो वस्तु विशेष की बात कैसे कर सकती है। दुनिया में तो जो भी है वो विशेष है, सामान्य नहीं है। उसको 'सामान्य' के उदाहरण मात्र के रूप में देखना बुद्धि की दृष्टि से ठीक हो सकता है, सत् की दृष्टि से ठीक नहीं।

इस बात की ओर रसल ने 'The' शब्द के प्रयोग से बताने की कोशिश की और उसने इस सिद्धान्त को Theory of Definite Description कहा।

रसल का कहना था कि किसी वस्तु को जानने का अर्थ ही यह होता है कि उसमें क्या गुण विशेष हैं और वो ऐसे गुण होने चाहिएं जिनका समन्वित रूप किसी और वस्तु में मिले ही नहीं। वे केवल उस वस्तु मात्र के ही गुण हों।

किसी वस्तु का उसके उन गुणों द्वारा जानना जो केवल उसमें ही निहित हैं, ये एक तरह से नई बात थी क्योंकि उसके पहले किसी चीज़ को 'जानने' का अर्थ ही यह होता था कि हम उसको सामान्य प्रत्ययों के सन्दर्भ में समझें। बाद में इसका उदाहरण क्रिप्के ने इस मिसाल से दिया कि सोक्रेटीज़ प्लेटो का टीचर था। यही बात रसल ने अपने प्रसिद्ध उदाहरण 'स्कॉट बैवरली का लेखक है।' में कही थी। कहने का मतलब ये है कि किसी वस्तु विशेष की ओर इंगित करना उन गुणों से ही हो सकता है जो उसमें ही मिलें, अन्य कहीं नहीं। एक तरह से ये बात जब हम किसी प्रत्यक्ष चीज के बारे में उसके देश-काल को निर्धारित करते हैं तो वो उस देश-काल के सम्बन्ध में कि 'कहाँ' और 'कब' हरेक घटना या वस्तु को अपनी विशिष्ट निश्चितता में बताने की चेष्टा करती है; पर यही बात उन चीजों के बारे में कैसे बताई जाये जो देश-काल में स्थित नहीं हैं। गणित की संख्याएँ इसी प्रकार की होती हैं उनके वैशिष्ट्य को हम किस प्रकार पकड़ें या और भी जो प्रत्यय हैं, जिनकी चर्चा हम करते हैं, अब हम कैसे निश्चय करें कि हम इसी विशेष प्रत्यय की चर्चा कर रहे हैं।

रसल ने इसी बात को आगे बढ़ाकर ये कहने की कोशिश की कि अगर हमें किन्हीं शब्दों या वाक्यों का अर्थ जानना हो तो हमें उसका अनुवाद उन प्रदत्त संवेद्य इन्द्रिय ग्राह्य गुणों में करना पड़ेगा जो उसको अर्थवान बनाते हैं और उसकी सत्ता को परिभाषित करते हैं। यह बात अंग्रेज़ी में Theory of logical construction के नाम से मशहूर है; इसका आसान अर्थ यह है कि आप कुछ भी कहें अगर आपको उसका अर्थ निश्चय करना है तो उस अनुभूति में करना होगा जो आपको होती है और ये अनुभूत अनुभव अधिकतर या तो वो इन्द्रिय संवेद्य होते हैं जो आपको रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि में अनुभूत होते हैं या सुख-दुःख में। रसल का कहना था कि हमारे पास केवल यही दिया हुआ है और इसी से हम संसार की रचना करते हैं। ये रचना दो विभिन्न दिशाओं में होती है। एक बाहर का संसार और एक अन्दर का। ये संरचना उसके अनुसार उन तार्किक सम्बन्धों के द्वारा होती है जो शुद्ध बुद्धि ने हमें दिये हैं। इस प्रकार हमारे पास केवल दो ही प्रदत्त हैं जो सन्देह से परे हैं। एक ओर वो जो बुद्धि हमें देती है दूसरी ओर वो जो हमें

इन्द्रियाँ या अन्तरानुभूति देती है। इन दोनों के सहयोग से ही संसार रचित होता है कि कोई भी वाक्य हो, किसी के बारे में भी बात हो उसके समझने के लिए हमें उसको रूपान्तर करके इन दो चीजों के बीच में समझना होगा। एक जिसको उसने Sense Data कहा और दूसरा Logical Relation। यहाँ Sense Data का साधारण अर्थ नहीं है, वो न जड़ है न चेतन। जड़ और चेतन का विचार तो उनके आधार पर ही बनता है।

'Sense Data' की बात मूर ने उठाई थी और ये कहा था कि हमें प्रत्यक्ष में जो गुण अनुभूत होते हैं, और स्वप्न में जो गुण अनुभूत होते हैं, और कल्पना में जो गुण अनुभूत होते हैं, उनमें साम्य क्या है। रंग, रूप हम स्वप्न में भी, वस्तु कल्पना में भी, प्रत्यक्ष में भी देखते हैं। उसका कहना था कि जो इन सबमें एक सा है, समान है वही 'Sense Data' है। वो नहीं है जो केवल इन्द्रियों से ही प्राप्त होता है। इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, लेकिन रसल ने Sense Data का जो प्रयोग किया उससे इन लोगों के सामने प्रधान समस्या दो प्रकार की लगती है। एक यह कि 'संसार कैसे बनता है' और दूसरी यह कि अगर हम इस प्रक्रिया को समझ लें या जान लें तो इससे सत्य असत्य की बात तय करने में कुछ आसानी होगी। पर जिस 'संसार' की बात ये करते हैं वो केवल वह संसार है जो विज्ञान के लिए 'संसार' है, या जिसे हम मनुष्य से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र मानते हैं, हालांकि 'यह' उसी की संरचना है।

एक तरह से यही बात कांट ने भी कही थी। उसके लिए भी जो 'दिया हुआ' है वो कुछ जरूर होता है और वह भी उसके अनुसार या तो हमें बाहर की इन्द्रियों से प्राप्त होता है या अन्दर की इन्द्रियों से। पर खाली इनसे तो संसार नहीं बन सकता, कम से कम मनुष्य का संसार जिसे वो ज्ञान का विषय मानता है, और जिसके द्वारा ज्ञान की सत्यता या असत्यता स्थापित होती है। कांट ने संसार रचना का मूल ही बुद्धि के उस स्वरूप में देखा था जिसे उसने Categories of Understanding कहा था और जो Judgement से ही प्राप्त होती है। रसल ने इसके विपरीत संरचना का स्रोत मनुष्य की तार्किक बुद्धि में ढूँढ़ा और उन मूल तार्किक सम्बन्धों की बात की जिसके बारे में वो जानता तो बहुत था, पर जहाँ तक मुझे पता है, उसकी विशद चर्चा इस सन्दर्भ में उसने नहीं की। खाली 'Logical Relation' कहकर बात टाल दी। पर उसने वो किया जो कांट ने कभी सोचा भी नहीं था। रसल के लिए समस्या यह थी कि आखिर 'देश' और 'काल' के प्रत्यय कैसे बनते हैं। आखिर देश और काल का ज्ञान तो हमें अपने अनुभव में ही मिलता है, पर जिस देश और काल की चर्चा हम करते हैं, वो इनसे बिल्कुल अलग होता है। कांट ने इनको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की पूर्वमान्यता के रूप में देखा था, पर उसने यह नहीं सोचा था कि अगर ऐसा ठीक है भी, तो भी उनको इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभव में किस प्रकार रूपान्तरित किया जाये। रसल ने अपनी

प्रसिद्ध पुस्तक 'Knowledge of the External World' में इसकी विस्तार से चर्चा की है। वह पुस्तक बहुत गहन, गम्भीर और मुश्किल है, लेकिन शायद वो दर्शन के क्षेत्र में वही काम करना चाहती थी जो कांट ने किया था। बाद में शायद स्ट्रॉसन ने इस सारी समस्या को दूसरी तरह देखा और उसने कहा कि समस्या ज्ञान की है ही नहीं, वो तो इस बात की है कि इस सारे किस्से में हमें जो स्वत: निष्ठ वैशिष्ट्य रूप व्यक्ति, या 'Individual' मिलता है, उसकी संरचना कैसे होती है, देश और काल में स्थायित्व लिए हुये और ज्ञान और भावना के रूप में उपस्थित होने वाला 'Individual' कैसे संरचित होता है।

स्ट्रॉसन की यह पुस्तक प्रसिद्ध है लेकिन शायद जो वो उसमें करने की कोशिश कर रहा था, उस पर विशेष ध्यान किसी ने नहीं दिया। दार्शनिक लोग तो यह मानकर ही चलते हैं कि 'ज्ञान' Universal या सामान्य का होता है विशेष या Individual का नहीं।

एक तरह से रसल हो या कांट या कोई और दार्शनिक, वे उसी को संसार मानकर चलते हैं जो मनुष्य का बनाया हुआ नहीं है, हालांकि वे बात ऐसे करते हैं जैसे मनुष्य के बनाये हुए संसार में और वो संसार जो उससे पूर्णरूपेण स्वतन्त्र माना जाता है, उनमें कोई अन्तर ही नहीं है।

इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है कि यह वही युग था जब आदमी की कृतियों को समझने वाले शास्त्र रचे जा रहे थे जिनको Cultural Anthropology का नाम दिया जा रहा था और इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि रसल के स्वयं अपने मित्रों में उस ज़माने के मशहूर उपन्यासकार, लेखक आदि भी थे जो उस ग्रुप के सदस्य थे, जिसे ब्लूम्सबरी ग्रुप कहा जाता है। डी.एच. लॉरेन्स और वर्जीनिया बुल्फ और शायद क्लाइव बेल इसके सदस्य थे जो स्वयं उच्च कोटि के लेखक थे और जिनका कला और संस्कृति से गहरा सम्बन्ध था।

लेकिन जिस दार्शनिक ने रसल की बात को उसके मूल में पकड़ा और आगे बढ़ाया वो बीसवीं शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक है, उसका नाम विट्गेन्सटाइन था, उसके बारे में इतनी कहानियाँ हैं कि दर्शन के हर विद्यार्थी को उनमें से एक-दो तो जरूर पता होंगी पर जो लोग विट्गेन्सटाइन की बात करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उसकी अपनी जिन्दगी काल के उस खण्ड में बीती जब जर्मनी ने ऑस्ट्रिया को अपने में सम्मिलित कर लिया था और जिसके बाद जितने भी यहूदी मत को मानने वाले लोग जर्मनी और ऑस्ट्रिया में थे उन सबको धीरे-धीरे करके वहाँ से जाना पड़ा और अन्त में तो बात यहाँ तक पहुँच गई कि उनको वहाँ से कैसे सुरक्षित निकाला जाये। इन लोगों में इतने बड़े वैज्ञानिकों और दार्शनकों का नाम है कि उस सूची को पढ़कर आश्चर्य होता है कि बीसवीं

शताब्दी के मध्य में योरोपीय सभ्यता को क्या 'सभ्यता' का नाम दे सकते हैं। ये कहानी इतनी दर्दनाक है कि उसके बारे में सोचना भी मुश्किल है।

लेकिन विडम्बना तो यह है कि बहुत से लोगों की राय में जो हिटलर ने किया उसका मूल नीत्शे के उस Superman के विचार में था जो अपने को मनुष्यता से अलग ही नहीं मानता, आदमियों में छोटे-बड़े का भेद भी करता है और वो समझता है कि वो जो कुछ करता है वो ठीक है।

उन दिनों की वियना की कहानी अजीब है, वहाँ कितने लोग इकट्ठे हुये थे, सब तरह के, दार्शनिक भी, कलाकार भी, संगीतज्ञ भी और भी अनेक-अनेक। विट्गेन्सट्राइन भी उसी का एक भाग था और भी कई लोग थे। वियना सर्किल की बात सबको पता है जहाँ पहली बार अनेक दार्शनिकों ने मिलकर ये कोशिश की कि दर्शन को एक शुद्ध वैज्ञानिक रूप में देखा जाये। विट्गेन्सटाइन इसका बाकायदा सदस्य तो नहीं था पर उसे पता था कि वे लोग क्या करने की कोशिश कर रहे हैं, और शायद इसी कारण विट्गेन्सटाइन की पहली पुस्तक 'Tractatus Logico Philosophicus' उस काम को पूरा करने की कोशिश करती है जो वियना सर्किल ने शुरू किया था और जो दूसरी तरह से रसल कैम्ब्रिज में कर रहा था।

विट्गेन्सटाइन के विचार का प्रारम्भ, शायद **टार्स्की** की इस बात को समझने से अधिक आसान होगा कि केवल वाक्य ही सत्य असत्य हो सकते हैं, वस्तुस्थिति नहीं, उसका प्रसिद्ध उदाहरण ये था कि अगर हम ये कहें कि 'बर्फ सफेद है' तो ये सत्य या असत्य हो सकता है, लेकिन अगर हम ये कहें कि 'सफेद बर्फ सच है', तो इसका कोई मतलब ही नहीं होगा। इसमें फर्क ये है कि जब हम कहते हैं कि 'बर्फ सफेद है' तो हम न 'बर्फ' की, न सफेद की बात कर रहे हैं, न सफेद बर्फ की, बल्कि इस वाक्य की कि 'बर्फ सफेद है' या कहें तो बर्फ के सफेद होने की बात कर रहे हैं।

टार्स्की की ये बात एक तरह से तो बहुत सीधी-साधी और मामूली लगती है लेकिन इसने दर्शन के 2500 साल के इतिहास पर जितना गहरा आघात किया वो किसी दूसरे दार्शनिक ने इतनी छोटी-सी बात कह कर नहीं किया था।

विट्गेन्सटाइन अपनी बात यहीं से शुरू करता है और कहता है कि आखिर वाक्यों की सत्यता या असत्यता की बात तो ठीक है, पर आखिर वे मूलभूत वाक्य क्या हैं जो ज्ञान के प्रासाद को बनाते हैं और जिनकी सत्यता असत्यता पर ही उस ज्ञान की सत्यता असत्यता निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में उसने उन वाक्यों की चर्चा की जिन वाक्यों को और किन्हीं अन्य वाक्यों में विश्लेषित नहीं किया जा सकता था, जिसे उसने 'अणु-वाक्य' या Atomic Sentence या Proposition का नाम दिया।

विट्गेन्सटाइन के ट्रेक्टेटस का प्रथम सूत्र तभी समझा जा सकता है जब हम इस बात को समझें। उस पुस्तक की आधार-शिला उस प्रथम सूत्र में ही है 'The world consists of facts.' इस पर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया कि उसने यह क्यों नहीं कहा कि The world consists of things or The world consists of events। इसके पीछे टार्स्की की वो दृष्टि थी जो पहले ही यह कह चुकी थी कि सत्यता असत्यता घटनाओं के, वस्तुस्थितियों के या वस्तुओं के बारे में नहीं होती, वह तो उन वाक्यों को सत्य असत्य ठहराती है जो उनके बारे में हैं। संसार की रचना करना उस भाषा के बारे में है जो उनका वर्णन करती है।

विट्गेन्सटाइन के अनुसार अगर Atomic Proposition या Atomic Sentence हैं तो वो जिसकी बात करते हैं, वही Atomic facts हैं।

इस बात को गहराई से समझने पर यह पता लगेगा कि वो यह कहने की कोशिश कर रहा है कि वस्तुएँ हों, वस्तुस्थिति हों, घटनायें हों, वे एक तरह से ज्ञान के सम्बन्ध में सम्बन्धित रूप में ही देखी जा सकती हैं, अलग-अलग नहीं। 'Atomic Fact' का मतलब Atomic thing होना नहीं है, न ही Atomic event। इस भेद को समझे बगैर हम आज के दर्शन की मूल प्रवृत्ति को ही नहीं समझ सकते।

'Atomic Fact' वो है जिसको 'Atomic Proposition' या 'Atomic Sentence' अपने में प्रदर्शित करता है। ये वाक्य के द्वारा, या कहें तो हमारी भाषा के द्वारा संरचित सत्य है, न कि उससे स्वतन्त्र। इसका रूप हमेशा इस प्रकार का होता है कि यह, 'यह' है, या यह नहीं है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि हम 'किसी' के बारे में 'कुछ' कह रहे हैं, चाहे वो 'कहना' यही हो कि जिसकी बात हम कर रहे हैं, वो 'नहीं' है। इस प्रकार का भेद और इस भेद का सम्बन्ध भाषा के अन्दर ही उत्पन्न होता है, और भाषा के रूप में ही ये आबद्ध है।

एक प्रकार से कांट ने इसी को Categorical judgement के सन्दर्भ में कहा था और कहा था कि उसमें जो सम्बन्ध है वो Predicate और Subject का है, या जिसे हम 'द्रव्य' या गुण कहते हैं, या उद्देश्य या विधेय। कांट की बात को याद दिलाने से विट्गेन्सटाइन कि ये बात समझी जा सकती है कि इस प्रकार का वाक्य सम्बन्ध या Relation पर आधारित होता है। कांट ने इसको Relational Judgement या Categories of Relation के अन्तर्गत रखा था। पर कांट ने वो बात नहीं देखी थी, जो विट्गेन्सटाइन प्रकाश में लाने की कोशिश करता है, और वो यह कि यह वाक्य सदैव Descriptive या वर्णनात्मक होते हैं और इस रूप में ही इनको 'सत्य' या 'असत्य' या True और False ठहराया जा सकता है।

सत्य असत्य की बात करना ज्ञान की बात करना है और विट्गेन्सटाइन ये बताने की चेष्टा करता है कि ज्ञान या जिसे हम Knowledge कहते हैं, वो इन्हीं

वाक्यों द्वारा संरचित होता है, क्योंकि यही वाक्य मूलत: सत्य या असत्य कहे जा सकते हैं।

लेकिन खाली अणुवाक्यों या Atomic Sentences से तो संसार नहीं बनता। फिर, वो संसार कैसे बनेगा। इस बारे में विट्गेन्सटाइन के विचार ने एक ऐसा मोड़ लिया जो आधुनिक तर्कशास्त्र की आधारशिला है। अणुवाक्यों के बीच में सम्बन्ध आखिर कितने प्रकार के होंगे, इन 'प्रकारों' की चर्चा उसने इस तरह से की कि अगर आप चाहें तो दो अणुवाक्यों को आपस में जोड़ सकते हैं और ये सम्बन्ध 'and' द्वारा होता है। कोई भी अणुवाक्य हो, कितने भी अणुवाक्य हों, हम इन सब Atomic Sentences को मिलाकर एक नया वाक्य बना सकते हैं जो 'and' के द्वारा रचा जाता है।

ऐसी बात पहले कभी नहीं हुई थी लेकिन उसने खाली ये ही नहीं कहा; उसने ये भी कहा कि हम इन वाक्यों को एक और प्रकार से जोड़ सकते हैं, 'या तो ये होगा या ये होगा', 'Either P or Q'। इसके अलावा उसने वाक्यों को जोड़ने का एक और सम्बन्ध दिया जिसको इस प्रकार कहा जाता है 'यदि ये है, तो वो भी है'। अंग्रेज़ी में इसे 'If P then Q' के नाम से कहा जाता है।

एक तरह से ये कोई नई बात नहीं थी। ग्रीस में जिन लोगों ने तर्कशास्त्र की रचना की उन्होंने इसको Disjunctive और Hypothetical Judgement का नाम दिया। इसी तरह कांट भी इनको अपने Table of Judgement में रखता है।

लेकिन विट्गेन्सटाइन ने कुछ ऐसी बात की जो इतने स्पष्ट रूप में पहले कभी नहीं हुई। उसने ये कहा कि अणुवाक्यों का संयोग चाहे and से हो, या Either-or से हो, या If-then से हो, इनमें एक विशेष बात ये है कि जो नया वाक्य बनता है, उसकी सत्यता-असत्यता पूर्ण रूपेण उन वाक्यों की सत्यता असत्यता पर और इस सम्बन्ध के तार्किक रूप पर निर्भर करती है।

ये कुछ-कुछ Chemistry की तरह की बात थी कि अणु परमाणुओं के आधार पर संसार की वस्तुओं की संरचना किस प्रकार होती है और वो सम्बन्ध मूलभूत में कितने प्रकार के हो सकते हैं।

इस सबको समझने के लिए एक और भेद समझना होगा जिसको समझे बगैर इस विचार की सूक्ष्मता और गहराई को समझ ही नहीं पायेंगे। इसके लिए हमें तार्किक और अतार्किक संयोजकों में भेद को समझना है, जिनको अंग्रेज़ी में Logical connectives और non-logical connectives कहा जाता है। विट्गेन्सटाइन जिन सम्बन्धों की बात कर रहा था, वे शुद्ध तार्किक हैं। उनका उस संसार से कोई ताल्लुक नहीं है जिसकी चर्चा हम करते हैं। वे शुद्ध भाषागत हैं और उनका भाषा से स्वतंत्र कोई अस्तित्व ही नहीं है; पर तार्किक संयोजक क्या होता है और उसका अतार्किक संयोजक से क्या भेद है।

आधुनिक तर्कशास्त्र उसकी इस मूल भित्ति पर खड़ा है और इसको हम नहीं समझेंगे तो आज के तर्कशास्त्र को समझना मुश्किल होगा।

अतार्किक संयोजक का एक उदाहरण आसानी से समझा जा सकता है। हम कोई भी वाक्य जिसे हम 'P' के द्वारा इंगित कर सकते हैं। इससे हमेशा एक नया वाक्य बना सकते हैं, उसके पहले यह लिखकर कि "I believe that 'P'"। अब सोचिये कि 'संयोजक' का अर्थ क्या होता है। इसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि संयोजक या connective या operator अपने आप में कोई वाक्य नहीं होता लेकिन उसमें ऐसी शक्ति होती है कि वो किसी वाक्य पर लगाने से एक नये वाक्य को जन्म दे सकता है, जिसकी सत्यता असत्यता अगर पूर्णरूपेण हमारे संयोजक पर निर्भर करती है तो वो तार्किक होता है और नहीं करती तो अतार्किक होता है।

अब इन दो संयोजकों में भेद देखिये। एक "I believe that ..." और दूसरा "It is not the case that ... " दोनों संयोजक हैं या जिसे हमने connective या operator कहा है। लेकिन पहला संयोजक उस प्रकार का है कि अगर आप उसके शब्दों को समझते हैं तो उसे 'P' पर लगाने से जो नया वाक्य बनता है, उस वाक्य की सत्यता या असत्यता 'P' की सत्यता या असत्यता से निर्धारित नहीं होगी। जैसे यदि हम कहें कि 'मैं' विश्वास करता हूँ है कि 'ईश्वर का अस्तित्व है।' यदि ये वाक्य सत्य है तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। ईश्वर का अस्तित्व हो भी सकता है और नहीं भी। पर इससे मैंने जो नया वाक्य बनाया है उसकी सत्यता असत्यता पर कोई फर्क नहीं पड़ता। इसके विपरीत हम कहते हैं कि It is the case that God exists, अब ये जो नया वाक्य बना है इसकी सत्यता या असत्यता किस पर निर्भर करती है। अगर ईश्वर है तो ये वाक्य सत्य है और अगर ईश्वर नहीं है तो ये वाक्य असत्य है; इसीलिए ये तार्किक संयोजक का सबसे सीधा और सरल उदाहरण है।

अब इसी का दूसरा रूप देखिये "It is not the case that 'P'", अब इस नये वाक्य की सत्यता कैसे निर्धारित होती है। अगर P सत्य है तो ये वाक्य असत्य होगा और अगर P 'False' है तो ये वाक्य 'True' होगा। अब हमें इन वाक्यों से बाहर जाने की जरूरत नहीं है। तार्किक संयोजक का लक्षण यही है कि तार्किक संयोजक से जो नये वाक्य बने हैं उनकी सत्यता असत्यता जानने के लिए हमें उन वाक्यों के संसार से बाहर जाना ही नहीं पड़ता; केवल तार्किक संयोजक के रूप को समझना होता है।

एक तरह से अभी तक हमने एक ऐसे तार्किक संयोजक की बात की है जो एक अणुवाक्य पर लागू होता है; अब हम ऐसे संयोजक की बात करें जो एक से अधिक या कम से कम दो पर लागू होता है।

जिसको हमने 'and' कहा था, उसी संयोजक को लें तो अब हमारा नया वाक्य p और q को मिलाने से बनता है "p and q" इसे इस प्रकार भी लिख सकते हैं, p, q or and (p, q) ये नया वाक्य तभी सत्य होगा जब p भी सत्य हो और q भी। बाकी सब अवस्थाओं में ये वाक्य असत्य होगा। बाकी सब अवस्थाएँ क्या हैं। p सत्य और q असत्य या p असत्य और q सत्य या दोनों असत्य। इन तीनों अवस्थाओं में 'and' लगाने से जो नया वाक्य बनेगा वो हमेशा असत्य होगा। हमको ये जानने के लिए कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं है। यही आज सत्यता-सारिणी के नाम से जानी जाती है। Truth-table में वाक्य की केवल दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं। इनको T और F कहकर या 1 और 0 कहकर बताया जाता है। अब जो समझने की बात है, वो यह है कि हमारा शुद्ध तर्कशास्त्र जिसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन जो संसार के सत्य को अपने में प्रतिबिम्बित (mirror) करता है। वह mirror कैसे करता है। अगर आप होशियार हैं और तार्किक संयोजक को समझना चाहते हैं तो ऐसे तार्किक संयोजक लें जहाँ हमें केवल दो अणुवाक्यों की ज़रूरत होती है। कुछ प्रसिद्ध तार्किक संयोजक जिनकी चर्चा हमने पहले भी की है, 'If-then', 'either-or' हैं।

आधुनिक तर्कशास्त्र का ये महल एक ऐसी नींव पर खड़ा है जिसके बारे में सोचने पर आश्चर्य हुए बगैर नहीं रहा जा सकता। जिन अणुवाक्यों की चर्चा हम कर रहे हैं और जिनके आधार पर ही सब कुछ खड़ा किया गया है, वे वाक्य केवल वही हो सकते हैं जो सत्य या असत्य हो सकते हैं या जिनकी सत्यता या असत्यता निर्धारित की जा सकती है। इसका एक मतलब तो ये होता है कि हमारे वाक्य किसी वस्तुस्थिति का वर्णन करें या वर्णनात्मक हों, जिसे अंग्रेजी में Descriptive statement कहते हैं। यह वाक्यों पर पहला बन्धन लगाया जाता है, हालांकि इसकी बात नहीं की जाती।

पर इतना ही होता, तो शायद उतनी परेशानी नहीं होती जितनी ये जानने पर कि जिन्हें हम आमतौर पर अणुवाक्य कहते हैं, वे वैसे वाक्य हो ही नहीं सकते जो सत्य या असत्य हो सकते हैं, या जिनकी सत्यता या असत्यता स्थापित की जा सकती है। विट्गेन्सटाइन ने अणुवाक्यों का कोई उदाहरण नहीं दिया है पर यदि वो देता तो उसके सामने ये समस्या होती कि उस वाक्य में वो क्या है जिसके बारे में कुछ कहा जा रहा है, और वो क्या है जो कहा जा रहा है। इस बात को इस तरह से समझा जा सकता है कि अगर हम ये कहें कि—"गुलाब का फूल लाल है" तो यह देखने में तो वाक्य लगेगा पर वास्तव में तार्किक दृष्टि से ये वाक्य का आभास मात्र है, क्योंकि इसको सत्य या असत्य कहने का कोई अर्थ नहीं होता। इसे सत्यता-असत्यता की दृष्टि से अर्थवान बनाने के लिए हमें ये कहना पड़ेगा कि—"सब गुलाब के फूल लाल हैं।" या "कुछ गुलाब के फूल लाल हैं।" या "यह गुलाब का फूल लाल है।" एक तरह से यह वाक्य भी अणुवाक्य नहीं हो

सकता क्योंकि जैसा रसल ने दिखाने की कोशिश की थी ये स्वयं में दो वाक्यों के संयोग से उत्पन्न होता है। हम ये कह रहे हैं कि—''ये गुलाब हैं'', और ''ये लाल हैं'', और इन दोनों को एक साथ सत्य मानने की बात कर रहे हैं। इस तरह से देखने पर जिसकी हम बात कर रहे हैं वो हमेशा 'यह' है। पर इस 'यह' का क्या मतलब है। इसको इस प्रकार से कहा जाता है कि 'यह', वह है जो 'यहाँ' और 'अब' है। अंग्रेज़ी में कहें तो '' 'This', that is 'here' and 'now'.'' पर एक तरह से तो यह बात उन्हीं वाक्यों को अणुवाक्य मानेगी जिनको अंग्रेजी में Singular sentence कहते हैं, यानि जो न Universal हैं न Particular क्योंकि चाहे Universal हो या Particular, 'जो है', वो तो हमेशा Singular ही होता है।

ये मान्यता अजीब है। इसकी बात न विट्गेन्सटाइन ने की है, न रसल ने। क्योंकि ऐसा कहते ही ये सवाल उठेगा कि इसमें जो 'यह' है, या 'this' है, ये किसकी ओर इंगित करता है और दूसरी ओर उन बातों की चर्चा कैसे होगी जो देश-काल में अवस्थित नहीं हैं। रसल ने इसका समाधान अपनी Theory of Definite Description के द्वारा किया था जिसकी बात हम पहले कर चुके हैं और जिसका मतलब ये था कि 'this' कुछ भी हो अगर उसे Singular होना है, तो वो केवल Definite Description द्वारा ही हो सकता है। पर Definite Description हमेशा Complex होगा क्योंकि वो स्वयं में Simple नहीं हो सकता और इस समस्या पर रसल ने ध्यान नहीं दिया कि आखिर Description क्या होता है।

इस सन्दर्भ में ये ध्यान देने की बात है कि ब्रेडले रसल से पहले ही यह कह चुके थे कि हम जो कहते हैं वो केवल उस सत् के बारे में ही है जो वास्तव में है और बाकी सब जिसकी बातें हम गुण रूप में ही करते हैं। कहने का मतलब यह है कि 'यह' या 'this', उस चरम सत् या 'x' को इंगित करता है जिसके बारे में हम जो बात करते हैं वो उसी पर लागू की जा सकती है, क्योंकि जो भी हम कहेंगे वो हमेशा गुणों के रूप में देखा जा सकता है। जैसे हमने अभी ''Rose is red'' वाक्य को दो भागों में बाँट दिया। ''This is rose'' and ''this is red'', यहाँ 'rose' और 'red' में कोई भेद नहीं है।

लेकिन इससे जो समस्या विट्गेन्सटाइन के तर्कशास्त्र के लिए उत्पन्न होती है वो अलग है, क्योंकि खाली 'all' या 'some' कहने से काम नहीं चलेगा। आखिर लौट कर तो 'this' पर ही आना पड़ेगा और ये 'this' क्या होगा। उसके बारे में जो समस्या विट्गेन्सटाइन ने अपने Doctrine of Ostensive Definition में 'Ostensive' Detinition के बारे में उठाई थी, वो रसल के Definite Description पर भी लागू होगी, क्योंकि अन्ततोगत्वा सवाल ये होगा कि ये Definite Description किसी भी चीज़ पर लागू होता है या नहीं, और अगर लागू होता है तो किस आधार पर।

इस सब चर्चा के मूल में एक पूर्व मान्यता ज़रूर है और वो ये है कि जो सत् है वो हमेशा Singular या विशेष ही हो सकता है, सामान्य नहीं। लेकिन तार्किक सम्बन्ध तो सामान्य की बात करते हैं और हम जैसे गणित में उनकी चर्चा करते हैं जिसको हम चाहें तो Singular बना सकते हैं, चाहें तो नहीं। उसी तरह तर्कशास्त्र में भी हम दोनों तरह का खेल, खेल सकते हैं, क्योंकि जैसा शायद ये सब लोग कहने की कोशिश कर रहे हैं कि जिसको हम ज्ञान कहते हैं वो एक तरह से विशेष और सामान्य दोनों को अपने में समाहित करता है और एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

इस बात को यहाँ आगे बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है, पर एक बात की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। कांट के सामने भी ये समस्या उठी थी और उसने Universal, Particular और Singular का भेद ही नहीं किया था पर ये भी कहा था कि Singular Sentence ही असली Sentence है और वो Universal और Particular दोनों की Synthesis है।

विट्गेन्सटाइन के बाद दर्शन ने दार्शनिक चिन्तन में जो नया मोड़ लिया, उसे एक तरह से दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक वो जो विट्गेन्सटाइन के ट्रेक्टेटस को आधार बनाकर एक ऐसी नयी भाषा की रचना करना चाहता है जिसमें वो सब भ्रान्तियाँ उत्पन्न ही न हों जो सहज भाषा में सदैव उत्पन्न होती रहती हैं। क्योंकि अणुवाक्य कैसे बनायें, अणुवाक्यों को तार्किक संयोजक से कैसे जोड़ें और फिर उनकी सत्यता असत्यता कैसे निर्धारित करें। खाली अणुवाक्य कहने से तो अणुवाक्य बनता नहीं है, उसका उदाहरण देना होगा। विट्गेन्सटाइन के पास इसका कोई जवाब नहीं था, लेकिन कार्नेप ने इस बात को आगे बढ़ाया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Logical Structure of the World में ये कहने की कोशिश की कि दार्शनिक समस्याओं का समाधान रोज़मर्रा की बोलचाल की भाषा में कभी नहीं हो सकता, उसके लिए हमें एक नई भाषा गढ़नी होगी, जिसमें जो भी कहा जा रहा है और जिस तरह भी कहा जा रहा है और यह स्पष्ट रूप में निर्धारित करें कि वो कैसे सत्य या असत्य स्थापित किया जा सकता है। इसी को अंग्रेज़ी में construction of an Ideal language in which alone philosophical problems can be presisely stated and solved का नाम दिया जाता है।

ये बात कुछ ज़्यादा बढ़ी नहीं, लेकिन आदर्श के रूप में हमेशा दार्शनिक के सामने रही है। यही नहीं, इन लोगों ने ये भी सवाल उठाया कि अगर ज्ञान या Knowledge जैसी कोई चीज है, तो वो विज्ञान की अनेकानेक भाषाओं में अभिव्यक्त नहीं होनी चाहिए। विज्ञान की भाषा तो एक ही होनी चाहिए, और उसी भाषा में जो भी ये दावा करता है कि उसका ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान है उसे उस भाषा में ही उसका वर्णन करना चाहिए, जिससे उसकी सत्यता असत्यता उसी प्रकार स्थापित की जा सके जैसे वैज्ञानिक ज्ञान के अन्य वाक्यों की। अगर ऐसा नहीं

किया जा सकता तो ज्ञान के मूल में ही कहीं न कहीं दोष है। इसी को Encyclopedia of Unified Science में चरितार्थ करने की चेष्टा की गई थी, और उसके पहले जिसे 'वियना सर्किल' कहते हैं, उसमें भी कुछ ऐसी बात हुई थी।

इसी से मिलती-जुलती एक समस्या पॉपर ने उठाई और ये कहा कि आखिर जिसे हम वैज्ञानिक ज्ञान कहते हैं, उसमें और दूसरे प्रकार के ज्ञान जिन्हें हम Unscientific कहते हैं, में क्या भेद है। इसे उसने 'Problem of Demarcation Between Science and Non-Science' का नाम दिया और ये कहा कि ये भेद मूलत: इसमें है कि अगर हमारी दृष्टि वैज्ञानिक यानि Scientific है, तो हम हमेशा अपने से यह पूछते हैं कि जो हम कह रहे हैं और जिसके बारे में हम ये दावा कर रहे हैं कि ये सच है उसकी सत्यता कैसे स्थापित होगी। यही नहीं, हम सारी कोशिश उसको असत्य करने में लगायेंगे और उसे सत्य कहने का अर्थ ही यह होगा कि हमारी सारी कोशिशों के बावजूद उसे असत्य नहीं ठहराया जा सका।

ज्ञान के इस पक्ष को समझने की और भी अन्य चेष्टाएँ हुई हैं,जिनमें से दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो ये कि जिसे हम विज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान या प्रमाण-प्रमेय या प्रमाण द्वारा सिद्ध ज्ञान कहते हैं वो हमेशा इस प्रकार का होता है कि उसमें सदैव परिवर्तन की सम्भावना ही नहीं, बल्कि अनिवार्यता भी हो। ये ज्ञान एक तरह से अपने में अपूर्ण ही नहीं होता, बल्कि कुछ ऐसी 'कमी' को लिए हुए होता है जिसमें हमेशा परिष्कार की आवश्यकता रहती है, इसलिए जहाँ एक ओर हम उस ज्ञान को ज्ञान मानने के लिए हमेशा अनेक कसौटियों पर जाँचते रहते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने अनुभव या बौद्धिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में परिवर्तन करने की बात भी सोचते रहते हैं; और सोचते ही नहीं, ऐसा करते भी हैं। यही आज जिसे Science कहते हैं वो ज्ञान पहले के सारे ज्ञान से मूल रूप में भिन्न माना जाता है।

दूसरा एक और फर्क जिसकी ओर लाकाटोस ने ध्यान दिलाया था वो ये है कि हम आज ज्ञान उसी को कहते हैं जो ज्ञान की नयी परम्पराओं को जन्म दे सकता है। उसने ये बात उस बहस के सन्दर्भ में कही थी जिसमें ज्ञान की सत्यता और असत्यता स्थापित करने के लक्षण दिये जा रहे थे। उसका कहना था कि वैज्ञानिक बुद्धि ये नहीं पूछती कि ये सत्य है या असत्य, बल्कि इसको मानने पर क्या ज्ञान के कोई और दरवाजे खुलते हैं, कोई और दिशा मिलती है, जिसमें ज्ञान की खोज में नई यात्रा प्रारम्भ की जा सकती है।

यह दृष्टि भी ज्ञान को एक अनन्त संधान या प्रक्रिया के रूप में देखती है, जो कभी समाप्त नहीं होगी। यही नहीं, ये ज्ञान को इस तरह देखती है, ज्ञान पाने का अर्थ ही यह है कि आपको यह महसूस हो कि अभी तो कुछ हुआ ही नहीं, अभी तो बहुत जानना बाकी है, अभी तो ये करना है, ये और करना है।

इस तरह एक ओर जहाँ ज्ञान के वैज्ञानिक स्वरूप को दार्शनिकों ने पूर्ण रूप से बाँधने की कोशिश की और कहा कि वही ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान कहलाने का अधिकारी है जो इन शर्तों को पूरा करे। वहीं दूसरी ओर विज्ञान पर चिन्तन करने वालों ने उसके उस रूप को देखा जो हमेशा उसे आगे बढ़ता हुआ देखता है। 'ऐसा आगे बढ़ना' जिसका न कभी कोई अन्त है, न सिद्धान्तत: अन्त हो सकता है।

पर दार्शनिकों की जो समस्या थी, वो तो वैसी की वैसी ही बनी रही। उनके सामने सवाल था कि आखिर सब जो ज्ञान होने का दावा करता है, उसको हम ज्ञान तो नहीं कह सकते, और अगर ऐसा है तो हमें दोनों में कुछ भेद तो करना ही होगा। इस भेद का आधार क्या हो, इस पर बहुत चिन्तन हुआ और इनमें से एक चिन्तन उस शब्द के बारे में ही है जिसको अंग्रेज़ी में 'know' कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मैं जानता हूँ' तो इसका अर्थ क्या होता है। एक तरह से जो यह कहता है वो कुछ उसके बिल्कुल विपरीत कहता है कि जो यह कहता है कि 'मैं विश्वास करता हूँ'। 'विश्वास' और 'ज्ञान' में क्या भेद है।

इस भेद को ऑस्टिन ने यह कहकर समझाने की कोशिश की कि जब कोई यह कहता है कि 'I believe that' तब हम उससे यह पूछते हैं या ऐसा पूछना सार्थक मानते हैं कि वह ऐसा क्यों करता है। उससे यह नहीं पूछते कि वो ऐसा किस आधार पर करता है। अंग्रेज़ी में उसने इसको इस तरह रखा था कि जब belief की बात होती है तो हम पूछते हैं कि 'Why do you believe'। 'I believe that p' की सत्यता-असत्यता 'p' की सत्यता-असत्यता पर निर्भर नहीं करती, बल्कि 'belief' की सत्यता-असत्यता पर। इसीलिये हम यह नहीं कहते ''Why do you know that, 'but' How do you know that''

इसके विपरीत जब आप कहते हैं कि ''I know that P'' तो जो नया वाक्य बनेगा उसकी सत्यता इस बात पर निर्भर करेगी कि आप जिसे जानते हैं वो सत्य है या नहीं। अगर वो सत्य है तो दावा सत्य होगा और अगर वो असत्य है तो दावा असत्य होगा।

बाद में इस पर और भी गहरा और गम्भीर विचार किया गया। आखिर जब आदमी ये दावा करता है कि 'वो जानता है' तो वो इस दावे को कैसे सही सिद्ध करेगा। इसको Problem of justification कहा। आपको वो आधार देने पड़ेंगे जिनके आधार पर आप 'Knowledge' की बात कर रहे हैं। अगर आपके आधार गलत हैं तो आपको दावा करने का अधिकार ही नहीं था।

पर ऑस्टिन ने जिस तरह इस सवाल का जवाब देने की कोशिश की उसमें एक ऐसी दार्शनिक विधि निहित थी कि उसे अन्य दार्शनिकों ने और तरह अपनाया।

अगर हमें दो भिन्न बातों के दार्शनिक भेद को जानना हो तो उसका एक तरीका ये है कि वे कौन से प्रश्न हैं जो एक के बारे में पूछे जा सकते हैं और दूसरे के बारे में नहीं। वे सब विषय या समस्याएँ या वस्तुएँ जिनके बारे में हम एक ही प्रकार के प्रश्न पूछ सकते हैं वे सब एक ही कोटि की हैं, या अन्य कोटि की। उनमें यह भेद नहीं करेंगे तो अनेकानेक ऐसी दार्शनिक समस्याएँ पैदा होंगी, जिनका कभी हल नहीं होगा। इसे 'category mistake' कहते हैं। सारा दर्शन इसी भूल पर आधारित है कि जिनमें मूलभूत भेद करना चाहिए उनमें भेद नहीं किया गया।

राइल ने इस विचार को एक नई दिशा दी और प्रश्नों की बात छोड़कर उसने यह कहा कि अगर कोई वस्तु है तो 'वो' जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं, उसके बारे में वे सब बातें कहते हैं जो सार्थक रूप में सत्य या असत्य हो सकती हैं तो वह उस कोटि से भिन्न है जिसके लिए वे सब बातें बिल्कुल निरर्थक या बेमानी या बकवास लगने लगें। इसी का उल्टा उसने ये भी कहा कि अगर आप कोई भी predicate लें या उसका विरोधी तो उन सब चीजों पर जिन पर वो सार्थक रूप से लागू हो सकता है, एक ही कोटि की हो सकती हैं और अगर कोई ऐसी चीज़ें हैं जिनके बारे में यह कहना कि वे ऐसी हैं, कोई अर्थवत्ता नहीं रखता तो वे भिन्न कोटि की हैं। इसका अर्थ ये होगा कि संसार में जैसे ही हम किसी वस्तु का नाम लेते हैं तो एक साथ संसार दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक वे सब गुण प्रत्यय जो उसके सन्दर्भ में लागू हो जाते हैं और दूसरे वे जिन्हें हम लागू ही नहीं कर सकते।

राइल की ये बात प्रसिद्ध तो है पर इसको आगे नहीं बढ़ाया गया, जहाँ ये बात सम्बन्धों के बारे में भी सच होगी। ऐसा शायद राइल ने नहीं किया; रसल इसके पहले इस ओर ध्यान दिला चुके थे। रसल ने कहा था कि अगर हम सम्बन्धों की ओर ध्यान से देखें और सम्बन्धों के गुण की बात करें तो 'क्या है' इसके बारे में नई दृष्टि मिलेगी। इसके बारे में उनका प्रसिद्ध उदाहरण ये था कि अगर 'betweenness' का relation है तो संसार में कम से कम तीन चीजों का होना आवश्यक है, क्योंकि अगर संसार में केवल दो ही चीजें हों तो ये सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यही बात ऐसे सम्बन्धों के बारे में भी है जिनके 'होने' के लिए कम से कम चार चीजों की आवश्यकता है। रसल का ये तर्क उन दार्शनिकों के लिए एक चुनौती था जो शुद्ध सत्ता या सत् के बारे में कहते थे कि यह केवल एक ही है, अनेक नहीं है।

इसी बात को रसल ने एक और भी तरह से कहने की कोशिश की। उसने उन सम्बन्धों की ओर इशारा किया, वो सम्बन्ध इस प्रकार के हैं कि अगर किसी का वो सम्बन्ध किसी दूसरे से हो तो उस दूसरे का वही सम्बन्ध पहले से नहीं हो सकता। इसका सीधा-साधा उदाहरण 'greater than' के नाम से जाना जाता है।

अगर कोई चीज़ किसी दूसरे से गुणों में, परिमाण में, किसी भी दृष्टि से अधिक या बड़ी है तो दूसरी उससे अधिक या बड़ी नहीं हो सकती। इसे asymmetrical relation कहते हैं। बात मामूली है, सीधी है, सरल है पर इसके दूरगामी परिणामों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, जिसके सम्बन्ध में रसल का कहना था कि इन सम्बन्धों को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता कि वे कुछ ऐसे हैं कि दोनों चीज़ें जिनके बीच में सम्बन्ध है, सहभागी हैं, यानि बराबर का रिश्ता रखती हैं। इससे भी निष्कर्ष निकलेगा कि वे दार्शनिक जो एक ही सत्ता को मानते हैं या जो सारी सत्ताएँ एक ही में मानते हैं, वे गलती कर रहे हैं।

रसल, राइल, मूर, विट्गेन्सटाइन आदि ने दर्शन को बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जो दिशा दी उसका अभी तक पूरा मूल्यांकन नहीं हुआ है, न उसको एक समग्र दृष्टि में देखने की चेष्टा की गई है। पर इतना सब लोगों को पता है कि वो सारा चिन्तन जो Idealism के नाम से जाना जाता है उस पर इतना गहरा आघात दर्शन के इतिहास में शायद ही कभी हुआ हो।

पर दर्शन की कहानी कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड तक ही सीमित नहीं थी। इंग्लिश चैनल के पार फ्रांस और जर्मनी में जो विचार की धाराएँ कांट से नीत्शे और डेकार्ट से लाइब्नित्ज़ तक प्रवाहित हुई थीं, उनको आगे ले जाने वाले दार्शनिकों में हुसर्ल है जिसने दर्शन के विचार को एक नई दिशा देने की कोशिश की और जिसके विचार को Phenomenology का नाम दिया जाता है।

योरोप की दार्शनिक परम्परा जिसका प्रधान केन्द्र फ्रांस और जर्मनी था और जिसमें डेकार्ट से लेकर नीत्शे तक इतने प्रखर दार्शनिक हो चुके थे, उसके सामने एक तरफ अपने दार्शनिक चिन्तन की वो परम्परा थी जिसमें कांट और हेगेल जैसे दार्शनिक थे, तो दूसरी ओर उसको ये भी पता था कि इंग्लैण्ड में जो दार्शनिक परम्परा बेकन और लॉक से लेकर मूर और रसल तक पहुँची थी और जिसका केन्द्र बाह्य जगत का वो अनुभव था जो हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है और जिस पर हमारे चिन्तन का सारा आधार बनता है, इन दो के बीच जो खाई है या विरोध है उसको दार्शनिक चिन्तन द्वारा कैसे खत्म किया जाए या कम से कम किया जाए।

यही नहीं, प्लेटो से कांट तक आने वाली दार्शनिक परम्परा में जिसमें गणितीय ज्ञान हमेशा समस्या के रूप में रहा था और जिसकी ओर एक बार फिर फ्रेगे और रसल ने ध्यान दिलाया था, उससे दार्शनिक चिन्तन, विशेषकर वो जो ज्ञान से सम्बन्धित था, कैसे निपटा जाये।

हुसर्ल ने इन समस्याओं के समाधान के लिए एक नया रास्ता अपनाया। उसने कहा कि Philosophy के लिए ये दोनों विकल्प या मान्यताएँ, इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला ज्ञान हम से स्वतन्त्र है या नहीं, ये समस्या स्वयं ज्ञान की नहीं है; ये

तो कहीं और से उत्पन्न होती है, क्योंकि सारे भेद चाहे वो अन्दर या बाहर के हों, वो ज्ञान में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र को स्वायत्त और स्वतन्त्र मानना चाहिए और इन सवालों को जिनसे सारा दर्शन ग्रसित रहा है, उनको थोड़ी देर के लिए ताक पर उठाकर रख देना चाहिए।

उसका कहना ये था कि इस तरह की समस्या में पड़ना कि ज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष है, या शुद्ध बुद्धि ग्राह्य सत्, निरर्थक है, क्योंकि इसको हल करने की प्रक्रिया में ज्ञान की स्वयं की बात नष्ट होती है या कम से कम नज़र अन्दाज़ तो होती ही है, इसलिए उसने कहा कि अगर हमें मनुष्य के ज्ञान को समझना है तो इन सवालों को अपने सामने से हटाकर ही समझना होगा।

सवालों को हटाने का मतलब ये था कि हम न तो ये कह रहे हैं कि ऐसा है ऐसा नहीं है। हम इस झगड़े में पड़ना ही नहीं चाहते। इसलिए दार्शनिक चिन्तक को एक नई विधि अपनानी पड़ेगी जिनके लिए ये प्रश्न और इनके उत्तर अवान्तर हैं। इसको उसने 'Phenomenological reduction' और 'Bracketing' का नाम दिया।

एक तरह से ये बात ह्यूम कह चुका था और दूसरी तरह से डेकार्ट भी। जिस तरह हुसर्ल ने बात शुरू की वो इन दोनों से अलग थी और बिल्कुल नई। डेकार्ट से उसने ये सीखा कि दार्शनिक चिन्तन की विधि अन्य सब विधियों से स्वतंत्र है, और वो एक तरह से सारी पूर्व मान्यताओं पर सन्देह का चिह्न लगाती है, और तब ये जानने की कोशिश करती है कि क्या कोई ऐसा ज्ञान है जिस पर सन्देह किया ही नहीं जा सकता। एक तरह से डेकार्ट ने भी 'Bracketing' किया था लेकिन वो Bracketing doubt से था और हालांकि doubt उसके लिए एक Methodological प्रक्रिया थी पर वो ये समझता था कि सन्देह के द्वारा ही हमें ये पता चलेगा कि वो क्या है, जिस पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

इसके विपरीत हुसर्ल सन्देह से शुरू नहीं करता। वो ये नहीं कह रहा है कि हम सन्देह के द्वारा किसी ऐसे ज्ञान पर पहुँचना चाहते हैं जिस पर सन्देह किया ही नहीं जा सकता। सन्देह या शंका की बात निरर्थक ही नहीं, बेमानी है, क्योंकि वह प्रतीति और सत् में भेद करने चलती है, पर जो प्रतीत होता है वह प्रतीत होता है। इस पर सन्देह करने का मतलब ही क्या है। यह बात कुछ-कुछ ह्यूम ने भी कही थी। केवल उसने ये कहा था कि प्रतीतियों के बीच में जो सम्बन्ध है उसको हम कार्य-कारण का रूप देते हैं, पर इस कार्य-कारण का रूप देने की न कोई अनिवार्यता है, न कोई औचित्य। वास्तव में तो प्रतीति प्रवाह मात्र है, एक के बाद दूसरी पर ह्यूम ने या कम से कम उसे समझने वालों ने इन प्रतीतियों को या इस प्रकार के अनुभवों को शुद्ध चेतनाश्रित या मानसिक कहने की कोशिश की थी। रसल ने इसके खिलाफ ये स्पष्ट करने की कोशिश की कि ये वो हैं जिन्हें न हम मन से सम्बन्धित कर सकते हैं न जड़ जगत् से। इनके आधार पर ही सब कुछ

बनता है, पर ये स्वयं न जड़ है न चेतन। कुछ-कुछ ऐसी ही बात मूर ने अपने Sense Data की चर्चा में कहने की कोशिश की थी।

हुसर्ल इस दृष्टि को आगे ही नहीं बढ़ाता बल्कि एक स्वचेतन दार्शनिक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करता है और कहता है कि दर्शन का काम उसका वर्णन है जो उसे शुद्ध प्रदत्त प्रतीत होता है। प्रवाह रूप में, इसी को इसलिए Phenomenology का नाम भी दिया जाता है। बगैर किसी पूर्व मान्यता के या पूर्वमान्यताओं के, बुद्धि को जो कुछ भी प्रतीत होता है, उसको सही-सही शुद्ध रूप में सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर देखना और बताना ही दर्शन का काम है। एक तरह से ये फिर वापस लौटना था, प्लेटो के दार्शनिक संसार में, पर नई तरह से। प्लेटो के लिए शुद्ध बुद्धि से ग्राह्य सत् और सत्य और इन्द्रियों से ग्राह्य सत् और सत्य में मूलभूत भेद था, हालांकि उसने उनमें सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की थी और इस सम्बन्ध के दो नाम दिये थे immitation और participation। इनमें से पहला उस Negative पक्ष की ओर ध्यान दिलाता है, जो ये कहता है कि इन्द्रियों से जो भी ग्रहण होता है सत्य नहीं है, छाया मात्र है। वहीं दूसरी ओर इन्द्रियों से जो भी ग्रहण होता है उसमें जो भी सत् है वो इस कारण है कि शुद्ध सत् का कुछ-कुछ भाग उसमें होता है। इसलिए उसे सत्-असत् की संज्ञा देना उचित होगा न कि पूर्ण रूप से उसे असत् समझना। भारतीय दर्शन में सत्-असत् की बात की गई है पर प्लेटो के इस विचार को जिस तरह पश्चिमी दर्शन में, खासकर नियो-प्लेटोनिज्म में आगे बढ़ाया गया उसमें इन्द्रियों से ग्राह्य होने वाले इस सत्-असत् को इस रूप में देखा गया कि इसी के द्वारा ही धीरे-धीरे हम चरम सत् की ओर बढ़ सकते हैं। इसमें छाया तो है, पर वो छाया ही जैसे-जैसे अधिक स्पष्ट होती है, हमें उस ओर ले जाती है जो उस छाया का स्रोत है। भारतीय दर्शन में ऐसी दृष्टि मिलती तो है पर उसको बढ़ाया नहीं गया। जैसे प्लेटो ने ये कहा था कि सत्य का दर्शन छायाओं से मुँह मोड़कर ही होता है, ऐसा ही कुछ-कुछ भारतीय दर्शन में भी कहा गया।

हुसर्ल ने इस सबको किनारे रखकर सीधे-सीधे ये कहने की कोशिश की कि हम लोग इस पचड़े में पड़ें ही क्यों। जो भी हमें प्राप्त है, उसी को हम इन सब दार्शनिक पूर्वाग्रहों से हटाकर क्यों न देखें और पायें कि क्या है।

प्रथम दृष्टि में ये बात अजीब लगेगी कि आखिर पाने को है क्या? देखने को क्या है, हमें तो जो पाना है उसको देखकर नहीं पाते, सोचकर पाते हैं और दार्शनिक का काम 'देखना' नहीं है, सोचना है और वो तो 2500 वर्ष से सोचता चला आ रहा है। हुसर्ल ने इस सोचने को हटाने की कोशिश की और दार्शनिक दृष्टि को उन तार्किक बहस और उलझनों से निकालने की कोशिश की और कहा कि तुम्हारे सामने क्या सत् है जो हमेशा है पर जिसे तुम देख ही नहीं पाते, क्योंकि

उसके और तुम्हारे बीच में तुमने बुद्धि की दीवार खड़ी की है। इस बुद्धि की दीवार को ढ़ाये बगैर तुम सत्य के दर्शन कर ही नहीं पाओगे।

Philosophy के लिए इससे बड़ी चुनौती शायद कभी भी नहीं दी गई थी पर हुसर्ल स्वयं कहाँ तक इसमें सफल हुआ ये कहना मुश्किल है। प्रोग्राम बनाना आसान था, पर उसको पूरा करना मुश्किल। हुसर्ल के सामने विकल्प भी थे, मजबूरियाँ भी और दर्शन का लम्बा इतिहास जो उसे बार-बार पुरानी दिशाओं में लौटने को लुभाता रहता था।

आखिर देखे तो कैसे, और देखे तो क्या। ह्यूम के बजाय उसने फिर लौट कर प्लेटो की राह अपनायी और वो भी पश्चिमी दर्शन की पुरानी परम्परा के स्रोत में जो गणित का ज्ञान बैठा हुआ था, उसने उसकी एक बार फिर शरण ली लेकिन उसने गणित के ज्ञान को नई तरह से देखने की कोशिश की।

गणित का ज्ञान इन्द्रियों से या इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, उससे तो होता नहीं है लेकिन एक तरह से वो शुद्ध बुद्धि के द्वारा भी नहीं होता। उसमें भी कुछ प्रदत्त होता है जिसका मतलब ये है कि उसमें एक 'givenness' होती है जो 'givenness' उसी प्रकार की है जो रंग, रूप, रस, गंध में होती है पर उससे पूर्णरूपेण भिन्न और उनमें जो given होता है, उसमें जो सम्बन्ध होते हैं वो भी उतने ही प्रदत्त होते हैं और इसलिए उनको बौद्धिक, rational या intellectual कहना उतना ही गलत है जितना empirical या sense-given कहना।

इसको Intution का नाम दिया जा सकता है, लेकिन वो ठीक नहीं होगा। अब हुसर्ल के सामने परेशानी ये थी कि वो गणित के ज्ञान को इस प्रकार देखने पर कैसे समझे। इसका उत्तर शायद वो कभी भी स्पष्ट रूप में नहीं दे पाया, लेकिन उसने इसके सहारे एक नई दिशा ली। वो ये थी कि जैसे गणितीय प्रदत्त हमको एक ऐसे ज्ञान का परिचय कराते हैं जो अपने में उन 'essences' (सत्वों) को लिए हुये होता है, जिनको अगर एक बार ग्रहण कर लिया जाये तो वो सदैव के लिए सत्य रूप में मिल जाते हैं, तो क्या ऐसी बात हमारे सारे जो प्रदत्त हैं उनके बारे में सही नहीं हो सकती। गणित का ज्ञान तो सबको पता है पर गणित जैसा ही ज्ञान और सब क्षेत्रों में भी हो सकता है, ये हुसर्ल ने कहने की कोशिश की। इसी को उसने The doctrine of eidetic essence का नाम दिया और अंग्रेज़ी में 'Ideas' भी कहा। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक जो सबसे पहले छपी थी उसका नाम **Ideas** था, वो प्लेटो की फिर याद दिलाती है।

पर गणितीय ज्ञान का तो पता सबको कुछ-कुछ है। बाकी के essences का ज्ञान कैसे होगा, अगर होगा, वो Phenomenology देगी। ये उसका वायदा था पर वायदा पूरा नहीं हो पाया, क्योंकि वायदा पूरा होने से पहले ही हुसर्ल का ध्यान इस प्रदत्त प्रक्रिया को जानने, समझने और वर्णन करने में एक और तरफ गया

जिसकी ओर एक तरह से उसके पहले कांट ने ध्यान दिलाया था। कांट का कहना था कि जो प्रदत्त है या जो 'given' है वो वास्तव में given नहीं है। उसके पीछे एक ऐसी क्रिया है जो उसको प्रदत्त का रूप देती है। इसको ऐसे कह सकते हैं, 'givenness is an 'illusion' because it proclaims itself to be sufficient when the phenomenological-cum-transcendental analysis will reveals it to the product of the founding activity which it presupposes.

हुसर्ल के चिन्तन का ये मोड़ एक तरह से उसकी सारी उस बात को जहाँ से वो चला था या तो उसको भुलाना है या फिर बिल्कुल नकारना है।

इसके बाद के हुसर्ल की कहानी एक नई दिशा लेती है। जिसको Phenomenology में कहा जाता है कि जो कुछ प्रदत्त है उसको इस प्रकार देखना कि वो किस प्रकार construct हुआ है। इसी का नाम phenomenology में constitutive acts of the ego which make the given 'given'.

हुसर्ल के दार्शनिक चिन्तन के ये तीन मोड़ प्रसिद्ध हैं, और इनमें अन्तरविरोधों की बात भी कही गई है, क्योंकि आखिरी मोड़ में वो जिसको 'bracket' करके चला था उस bracketing के खत्म होने की बात साफ दिखाई पड़ती है। Ego जो सब दिया हुआ है या जो अनुभव में मिलता है, उसको इस प्रकार देखना कि वो किसी क्रिया का फल हो, अपने आप में चेतना के उस पक्ष को प्राधान्य देता है जो क्रिया-केन्द्रित है, स्वयं ज्ञान का विषय नहीं।

पर इन सब में जो एक खास बात हमेशा रही वो हुसर्ल की वह वर्णनात्मक पद्धति थी या जिसे Descriptive methodology कहा जा सकता है जिसमें तर्क की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। हुसर्ल कोई तर्क नहीं देता, वो ये नहीं कहता कि अगर तुम ऐसा मानते हो तो तुम्हें ऐसा भी मानना पड़ेगा, चाहे तुम चाहो या न चाहो। वो तो सिर्फ इतना ही कहता है कि 'देखो', ध्यान से देखो, बगैर किसी पूर्वाग्रह के देखो और जो कुछ भी दिखाई देता है, उसे वैसे के वैसा ही वर्णन करने की कोशिश करो, जहाँ तक तुम ऐसा कर सकते हो।

ये देखने की क्रिया कोई आसान नहीं है। पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जैसा अनुभूत हो रहा है, उसको उसी प्रकार देखना एक दार्शनिक साधना का फल होता है, सहज उपलब्धि नहीं। इसीलिए शायद बहुत कम लोग असली मायने में Phenomenologist हुये। Phenomenology की बात तो बहुत होती है पर Phenomenological method को दार्शनिक विधि के रूप में पूर्णरूपेण अपनाना और उससे जो मिलता है या दिखाई देता है, उसको बताना शायद ही किसी दार्शनिक में मिले जो अपने को Phenomenologist कहते हैं। अगर कोई ये पूछे कि इस Phenomenological method के अपनाने के बाद क्या दार्शनिक उपलब्धियाँ हुई हैं तो इसका जवाब देना बहुत मुश्किल होगा क्योंकि न हुसर्ल के

बाद के लोगों के पास ऐसी कोई उपलब्धि थी जो उन्होंने इस विधि को अपनाकर प्राप्त की थी। वायदे बहुत थे, उम्मीदें बहुत थीं, पर मिला बहुत कम।

लेकिन ऐसा नहीं है कि कुछ भी नहीं मिला। कम से कम तीन किताबें जो Phenomenology से स्पष्टत: प्रभावित हैं, उनकी चर्चा Phenomenology में इस तरह नहीं हुई है, लेकिन फिर भी उन्हें इस तरह देखा जाना चाहिए। Merleau ponty की Phenomenology of Perception प्रसिद्ध है और उसकी एक-दो बातें विचार का विषय रही हैं, लेकिन उससे कुछ आगे बढ़ा हो ऐसा नहीं लगता। इसी तरह Masscheler की The nature of sympathy इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उसने Sympathy या सहानुभूति जैसी अनुभूति को लेकर इसको गहराई से देखने की कोशिश की और ये बताने की चेष्टा की है कि देखो ये जिसे तुम सहानुभूति कहते हो, वो क्या है। इसी तरह Nicolai Hartmann ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Ethics के दूसरे Volume में जिन्हें हम Values कहते हैं उनका विस्तार से वर्णन करने की कोशिश की है। अरस्तू के बाद शायद किसी ने भी कभी इतने विस्तार से इस क्षेत्र का पता लगाने की कोशिश कभी नहीं की थी। इसी में उसने उस भेद की ओर ध्यान दिलाया था जो Values और Moral values में है और दोनों के सम्बन्ध की चर्चा की थी।

मूर ने अपनी किताब Principia Ethica के 'Idea' chapter में ऐसा कुछ करने की कोशिश की थी पर उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। यही बात कुछ-कुछ हार्टमैन के साथ भी हुई।

Phenomenology की उपलब्धियाँ केवल Phenomenology के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहीं, एक तरह से ये उन दार्शनिकों में भी पायी जाती हैं, जिन्हें Existentialist कहा जाता है। कियर्केगार्ड और सार्त्र में ऐसी बातें मिलती हैं। यहाँ शुद्ध वर्णन है, तर्क नहीं। प्रमाण देने की जरूरत ही नहीं समझी जाती और इस तरह दर्शन जिसे हम तर्कनिष्ठ और बुद्धिनिष्ठ कहते हैं, उन्होंने उसे इस तरह से देखा जैसे उसमें बुद्धि और तर्क का कोई स्थान ही न हो। मूर ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही किया था और अपनी बात को Moral Intutionism का नाम देने की कोशिश की थी लेकिन ये लोग केवल Morality की या Values की बात ही नहीं कर रहे थे। ये तो उस विधि को सब जगह अपनाने की चेष्टा कर रहे थे और इस तरह दर्शन को एक नयी दिशा ही नहीं दे रहे थे उसे एक नयी बुनियाद पर खड़ा करने की कोशिश कर रहे थे।

भारतीय परम्परा में बौद्ध का अभिधम्म चिन्तन कुछ इस जैसा ही है। अभिधम्म के चिन्तन में जैसा बुद्ध के वचनों में एक उसी प्रकार की Phenomenological reduction या Bracketing मिलती है जो हुसर्ल ने कही थी। बुद्ध अनेक प्रश्नों का उत्तर नहीं देते; वो न ये कहते हैं कि हाँ और न ये कहते हैं कि नहीं; वो तर्क भी नहीं करते, न प्रमाण देने की कोशिश करते हैं। उनके लिए

सारा प्रमाण-प्रमेय व्यापार वृथा है, बेमानी है, क्योंकि उससे न कुछ निकलता है, न आता-जाता है। बुद्ध केवल आपको 'दिखाने' की कोशिश करते हैं, कहते हैं 'देखो' पूर्वाग्रहों से रहित होकर मनुष्य का अनुभूत सत् केवल यह है और केवल इतना ही है, इससे न ज़्यादा है, न कुछ कम।

लेकिन अभिधम्म में बुद्ध की दृष्टि सम्बन्धों पर है और उन सम्बन्धों को वो दो भागों में बँटा देखते हैं जिन्हें वो 'कुशल' और 'अकुशल' कहते हैं। 'कुशल' वो हैं जो मनुष्य की चेतना को स्वतन्त्रता की ओर ले जाते हैं। 'अकुशल' वो जो उसके स्वातन्त्र्य को कम करते हैं या उसे बन्धन में अधिक बाँधते हैं। इसके अलावा वो ऐसे भी अनेक सम्बन्धों को जानते हैं जो न कुशल हैं, न अकुशल हैं और मनुष्य का स्वातन्त्र्य इसी में है कि वो अकुशल कर्म कम करें, कुशल ज्यादा।

बुद्ध ने इन्द्रियों के विषयों को माना, इन्द्रियों को भी माना, इन्द्रियों से विषयों के सम्बन्ध को भी माना, मन को भी माना, मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध भी माना और मन का इन्द्रियों से जो सम्बन्ध था, उस सम्बन्ध द्वारा उनका विषयों से भी सम्बन्ध माना। इसी तरह उन्होंने बुद्धि की बात भी की, बुद्धि से मन के सम्बन्ध की बात भी की और एक अन्य स्तर पर अन्त: प्रज्ञा की बात भी की और उसके इन सबसे सम्बन्धों की बात भी की। यही नहीं, इन्द्रियों के विषय, इन्द्रियों और मन के बीच एक ऐसी देहानुभूति की बात की जिसकी चर्चा बहुत कम होती है। इस देहानुभूति का सम्बन्ध एक ओर मन से माना, दूसरी ओर इन्द्रियों से प्राप्त विषयों से।

इन सम्बन्धों का जितना सूक्ष्म विश्लेषण अभिधम्म में मिलता है, उतना संसार में कहीं नहीं मिलता। बुद्ध की दृष्टि स्थिर थी। वो केवल एक बात देखती थी कि ये सम्बन्ध 'कुशल' हैं या 'अकुशल'।

ये स्पष्ट नहीं है कि हुसर्ल बुद्ध के इस विचार से अवगत थे या नहीं और उन पर इसका कोई प्रभाव हुआ या नहीं। एक तरह से तो उस समय के जर्मनी में भारतीय दर्शन के प्रति आकर्षण ही नहीं था, बल्कि उसके प्रति जानकारी भी थी। वरना हेगेल वो न लिखता जो उसने लिखा था और हम्बोल्ट ने गीता पर न लिखा होता और शोपेनहावर की कहानी सबको पता है, इसलिए उसको दोहराने की ज़रूरत नहीं है। पर एक बात कहना ज़रूरी है कि हुसर्ल अपने आखिरी दिनों में बौद्ध चिन्तन से परिचित अवश्य हुये थे और उन पर उसका असर भी हुआ था और उन्होंने देखा कि मैं जो कर रहा हूँ वो बुद्ध के चिन्तन में भी परिलक्षित होता है। हुसर्ल ने मनुष्य के बारे में सोचने की कोशिश नहीं की थी, न ये सवाल उठाया था कि आखिर मनुष्य के अनुभव में या मनुष्य की चेतना और अन्य चेतनाओं में क्या भेद है, न हुसर्ल ने इस बात की ओर ध्यान दिया कि आखिर मेरे अनुभव में जो भावात्मक जगत् की अनुभूति होती है उसका सत्व क्या है। या मेरा अन्य से

सम्बन्ध क्या है या अन्य जैसा कोई है भी या नहीं। क्या हुसर्ल का चिन्तन अंग्रेजी में जिसे Solipsism कहा जाता है वैसा था। आत्म-केन्द्रित, अपने में बन्द, बाहर निकलने की कोई गुंजाइश ही नहीं, क्योंकि उसमें 'बाहर' या 'अन्य' कोई हो ही नहीं सकता, पर ये Solipsism उस Methodological Solipsism या Bracketing या Transcendental redcuction का परिणाम था जिसके बारे में कोई अनिवार्यता नहीं थी। अगर मैं 'Bracketing' कर सकता हूँ, तो उनको हटा भी सकता हूँ। मेरी स्वतन्त्रता इस विधि को अपनाने के बाद समाप्त नहीं हो जाती। शायद हुसर्ल और उनसे प्रभावित दार्शनिक ये भूल बैठे और उन्होंने ये मान लिया कि उनकी स्वतन्त्रता पूर्ण रूपेण खत्म हो चुकी है, वो अपने बनाये पिंजरे में खुद फँस गये और वो उससे बाहर निकलने की बात सोच ही नहीं सकते।

पर हुसर्ल के बाद के दार्शनिकों ने ये बन्धन स्वीकार नहीं किया। हालांकि उन्होंने इस विधि से सीखा बहुत कुछ पर आज़ाद होकर, पिंजरे में फँस कर नहीं। हाइडेगर और सार्त्र का दार्शनिक चिन्तन इतना प्रसिद्ध है कि उनका नाम लेते ही लोग उसकी बात करने लगते हैं जिस चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु मनुष्य फिर स्वयं होता है, जो यह प्रश्न उठाता है कि मनुष्य में और सब सत्ताओं में भेद क्या है।

इस चिन्तन को अस्तित्ववादी दर्शन कहा गया है, पर ये नाम गलत है और हिन्दी में तो बिल्कुल ही गलत। अंग्रेजी में जिसे Existenz कहा गया था वो Existence नहीं है। अस्तित्व तो मेज, कुर्सी का होता है, पहाड़, पत्थर का होता है, आदमी का नहीं। Existenz शब्द के प्रयोग से इन दार्शनिकों ने इस भेद की ओर ही इशारा करना चाहा था कि मनुष्य को उस तरह समझा ही नहीं जा सकता जिस तरह प्रकृति की अन्य वस्तुओं को, चाहे उसमें पेड़-पौधे हों या जानवर। हाइडेगर ने इसको Sein और Da-Sein कहकर समझाने की कोशिश की थी और सार्त्र ने इसको 'en-soi' और 'pour-soi' कहकर बताने की कोशिश की थी।

इन शब्दों को अगर ध्यान से देखें और उनके अर्थ को पहचानने की कोशिश करें तो उससे पता चलेगा कि दार्शनिक चिन्तन ने कैसे मोड़ लिया और उसका केन्द्र-बिन्दु कैसे बदला। ये दार्शनिक चिन्तन मनुष्य के बारे में है और उस भेद के बारे में है जो मनुष्य को और सब चीजों से अलग करता है। ये व्यावर्तक लक्षण न धर्म का है, न बुद्धि का जैसा कि भारतीय और पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं ने माना था, और न ही ये मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक होने का जैसा ग्रीस के दार्शनिकों ने माना था।

ये भेद तो उस आत्म-चेतना में था जो मनुष्य में पायी जाती है और जिसके लिए सारा विश्व ही नहीं, बल्कि वो स्वयं पर ही विचार का विषय बनती है और विचार का विषय बनते ही वो ऐसे प्रश्न और समस्याओं में उलझ जाती है जिनसे निस्तारा पाना मुश्किल है। अब देखिये, धर्म हो या बुद्धि, सामाजिक होना हो या राजनीतिक या सृष्टिकर्त्ता हो जैसे मनुष्य अपने को कला के क्षेत्र में पाता है, प्रश्न

हमेशा यही रहता है कि ये सब क्या है, क्यों है और जो है वो क्या वैसा ही है जैसा उसे होना चाहिए।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण चेतना में नहीं माना गया, क्योंकि वो तो पशु-पक्षियों में भी कुछ हद तक मिलती है और न प्राण में ही क्योंकि वो तो पेड़-पौधों में भी पाया जाता है और न बुद्धि में क्योंकि वो तो कुछ हद तक उन पशुओं में पायी जाती है जो मनुष्य के निकट सम्बन्धी समझे जाते हैं और इसीलिए ज्ञान कभी मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण नहीं माना गया। यही नहीं, उन्होंने उसको भी व्यावर्तक लक्षण नहीं माना जिसको करीब-करीब हर एक दार्शनिक ने चाहे वो पूर्व का हो या पश्चिम का, हमेशा माना है कि मनुष्य वो प्राणी है जो सुख चाहता है और दु:ख से बचना। यही बात कुछ-कुछ उस औचित्य बोध के बारे में भी है जिसे धर्म की संज्ञा दी गई है या moral consciousness कहा गया है; इसलिए नहीं कि वो है नहीं, पर इसलिए कि मनुष्य की आत्म-चेतना उसके बारे में भी उसी तरह सवाल करती है, जिस तरह वो किसी और चीज़ के बारे में।

दर्शन के इस मोड़ ने स्वयं आत्मचेतना पर जो चिन्तन किया वो कोई एक प्रकार का नहीं था। सार्त्र की पुस्तक का नाम 'Being and Nothingness' था, हाइड़ेगर की पुस्तक का नाम 'Being and Time' था, और फ्रांस के ही प्रसिद्ध दार्शनिक गैब्रियल मार्सेल की पुस्तक का नाम 'Being and Having' था।

सार्त्र की पुस्तक का नाम हेगेल की याद दिलाता है, क्योंकि हेगेल अपने चिन्तन का प्रारम्भ 'being' और 'nothingness' से ही करता है, उसने बहुत पहले कहा था कि शुद्ध 'being' के बारे में सोचते ही वो not-being या nothingness में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि वो इतना शुद्ध है कि उस बेचारे के पास कुछ है ही नहीं, क्योंकि जैसे ही हम कुछ कहते हैं वैसे ही वो विशिष्ट सत् या being का रूप धारण कर लेता है। लेकिन हेगेल ने इसे विचार की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग माना था और ये कहा था कि ये प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं होती, बल्कि एक ऐसी चिन्तन प्रक्रिया को जन्म देती है जिसमें हर कदम दूसरे कदम को आगे बढ़ाता है, और कुछ इस तरह जो छोड़ा है, जो नकारा है या जिसका निषेध किया है वो अपने में आत्मसात करके चलता है, जिसे गति या Motion या परिवर्तन कहते हैं। उसमें ये दोनों बातें, 'होना', और 'न होना' एक साथ निहित होते हैं और इसीलिए दार्शनिक बुद्धि न कभी उसे समझा पायी और यही नहीं, उसने उसे अपने समझने की कोटियों से पूरी तरह अलग पाया और इसीलिए उसने उसे unintelligible कहा।

सार्त्र ने Nothingness को इस रूप में नहीं देखा, उसने तो उसे आत्म-चेतना के अनिवार्य गुण के रूप में देखा और इसलिए जहाँ ये गुण उसे वह निर्गुणता प्रदान करता है, जिसमें ही स्वातन्त्र्य की बात की जा सकती है, वहीं दूसरी ओर ये

उसको ऐसी अनिवार्य मज़बूरी में डाल देता है जिसका हल कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि वो, यानि nothingness, उसे कभी कुछ होने ही नहीं देती।

अगर आत्मचेतना का अपना कोई स्वभाव होता या स्वरूप या बौद्धों की भाषा में कहें, 'धर्म', तो फिर उसमें स्वातन्त्र्य कैसे हो सकता था और अगर उसमें स्वातन्त्र्य अनिवार्यता से है, यानि जिससे वो कभी अलग हो ही नहीं सकती, अगर होना चाहे भी तो उसका कोई अपना न स्वरूप हो सकता है, न स्वभाव, न स्वधर्म।

सार्त्र ने मनुष्य की इस मज़बूरी को कोई अच्छी चीज़ नहीं माना। उसने तो मनुष्य की सारी परेशानियों की जड़ इसी में देखी और यही बात उसने अपनी प्रसिद्ध उक्ति 'Man is condemned to be free' में कहने की कोशिश की।

एक तरह से तो ये स्वातन्त्र्य को स्वयं being के रूप में देखना है या जिसको Metaphysical entity कहते हैं, उस रूप में। पर उसने ये सवाल नहीं उठाया कि आखिर निषेध किसी का तो होगा ही और इसलिए उसके लिए 'किसी का होना' उतना ही ज़रूरी है जितना उसको उस दृष्टि से देखना कि वो अपने आप में सम्पूर्ण ही नहीं है, बल्कि उसका आत्मविरोधी होना भी उतना ही सत् है जितना वो स्वयं, और यही नहीं, उसकी जो सत्ता है वो पूर्णरूपेण नष्ट हो सकती है। दूसरी ओर खाली स्वातन्त्र्य को लेकर कोई क्या करेगा। स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध कर्म से होगा, और कर्म के लिए शरीर की ही आवश्यकता नहीं है, पर ऐसे सैकड़ों, हज़ारों 'दूसरे' लोगों की जिनके बगैर मनुष्य तो कर्म कर ही नहीं सकता। कर्म के लिए सारे संसार की आवश्यकता है क्योंकि अगर संसार नहीं है तो न कर्म होगा, न ज्ञान।

सार्त्र केवल दार्शनिक नहीं थे। वे उच्च कोटि के साहित्यकार भी थे। उनके उपन्यास, उनकी कहानियाँ, उनके नाटक जगत् प्रसिद्ध हैं, और बहुत सारा जो उन्होंने कहा वो इनके द्वारा अधिक समझा जा सकता है। उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति जो उनके एक प्रसिद्ध नाटक No Exit के अन्त में कही गई थी। वो उनकी उस अनुभूत भावना को जिस प्रकार प्रकट करती है वैसा शायद उनके दार्शनिक चिन्तन में इतने स्पष्ट रूप में कहीं नहीं मिलता। उन्होंने कहा था—''Hell is other people'', ये भूलकर कि दूसरे मनुष्य न हों तो अकेला आदमी बैठा-बैठा क्या करेगा।

एक तरह से ये बात शोपेनहावर पहले ही कह चुके थे, पर और तरह से। शोपेनहावर ने कहा था कि मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वो एक जानवर porkupine जैसा प्राणी है वो एक-दूसरे के पास होना तो चाहता है, पर पास आते ही ऐसी चुभन या पीड़ा महसूस करते हैं कि फिर एक दूसरे से दूर जाना चाहते हैं। इस दूर जाने और पास आने में ही आदमी की कहानी है, न वो दूर रह सकता है न पास आ सकता है।

सार्त्र की बहुत सारी बातें नीत्शे में भी मिलती हैं। सार्त्र का Morality के प्रति दृष्टिकोण कुछ-कुछ नीत्शे जैसा था, क्योंकि उनकी ये समझ में नहीं आया अगर आत्म चेतना वास्तव में स्वतन्त्र है तो फिर वो किसी भी बन्धन को कैसे स्वीकार कर सकती है, फिर वो बन्धन चाहे Reason का हो या morality का। इसी बात को दूसरी तरह से इस प्रकार के विचारकों ने ये कहकर बताने की कोशिश की कि वास्तव में तो सब अर्थहीन है, absurd है, क्योंकि मनुष्य की चेतना अर्थ देने का, अर्थवत्ता प्राप्त करने का सतत प्रयास है, पर इस प्रयास में वो कभी भी सफल हो ही नहीं सकती, और वो अपने को सदैव ये भुलावा देती रहती है कि इसी से उसको अर्थवत्ता प्रदान होगी, meaning प्रदान होगा, Significance प्रदान होगा, जिससे वो इस विशाल विश्व में अपने को सार्थक महसूस करे।

एक तरह से देखें तो इस nothingness का दूसरा नाम मृत्यु है, वो मृत्यु जो सारे being को नकारती ही नहीं, बल्कि ये बताती है कि उसका 'अहं', ये भाव कि 'मैं हूँ' इससे बड़ी कोई भ्रान्ति नहीं है।

इसी बात को हाइडेगर Time या काल की बात कहकर शुरू करता है और कहता है कि being का जो सत् है, जो कहता है कि 'मैं हूँ', उसका काल से क्या सम्बन्ध है। इनकी पुस्तक का नाम ही Being and Time है। काल वो है जो सबको नकारता है, जो एक तरह से सबको नष्ट करता है, जो कहता है कि being जैसी कोई चीज ही नहीं है। गीता की प्रसिद्ध उक्ति है, 'कालेऽस्मि लोकक्षयकृत प्रवृद्धो', मैं काल हूँ जो सारे लोकों को नष्ट करता हूँ, I am Time, the all destroyer. Nothingness को काल के रूप में देखना और काल को सत् के अनिवार्य अंग के रूप में देखना हाइडेगर के चिन्तन का प्रारम्भ बिन्दु था पर उसने जो दूसरा भेद किया जो 'Sein' और 'Da-Sein' के नाम से प्रसिद्ध है वो उसके विचार को अलग दिशा में ले जाता है। एक तरह से हाइडेगर अरस्तू के उस भेद की ओर वापस लौटता है जो उसने Being और Substance के बीच में किया था। हाइडेगर इस भेद को इस प्रकार रखता है कि जो कुछ भी हमें प्राप्त होता है वो शुद्ध सत् नहीं है। वो सत् का एक विशिष्ट रूप है, और ये विशिष्ट रूप अनेकों हैं। इसको उसने 'Seinde' का नाम दिया और इन्हीं में एक ऐसा विशिष्ट सत् आत्म चेतना में प्राप्त होता है, जहाँ 'मैं हूँ' या 'मैं यहाँ हूँ', ये भाव उसका व्यावर्तक लक्षण बनता है। इसका नाम उसने Da-sein दिया। जिसका अंग्रेजी में अर्थ है 'being there' पर जो अर्थ अधिक स्पष्ट है वह है 'being here' या जिसे फिख्टे ने I am कहकर बताने की कोशिश की थी, लेकिन हाइडेगर के विचार का एक मोड़ उस तरह से पैदा होता है जैसा न फिख्टे, न हेगेल, न सार्त्र में। वो ये कहता है कि ये जो चेतना है, ये अपने को ही नहीं जानती बल्कि Being को भी जानती है। आत्म-चेतन होने का मतलब केवल ये नहीं है कि 'अहं' ही केवल है बल्कि ये भी कि अन्य है और अन्य भी उतना ही सत् है जितना कि 'अहं' या शायद उससे भी ज़्यादा।

भारतीय चिन्तन में इसे आत्म और ब्रह्म के शब्दों से व्यक्त करने की कोशिश की गई, पर आत्म और ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है। ये पश्चिमी चिंतन में तर्क से उत्पन्न तार्किक बुद्धि का विषय बने न कि उस आत्मानुभूति का जिसकी चर्चा भारतीय दर्शन में बहुत है। यदि ऐसा न होता तो आत्म और ब्रह्म की एकता की बात या उनमें भेद की बात की ही नहीं जाती।

हाइडेगर का विचार इस सम्बन्ध को एक नये रूप में देखता है जो सार्त्र के बिल्कुल विपरीत है और फिख्टे के भी। वो इस सम्बन्ध को एक ऐसे सम्बन्ध के रूप में देखता है जहाँ आत्म चेतना उस सबके प्रति जो उसे विषय रूप में उपलब्ध होता है, उत्तरदायित्व महसूस करती है, क्योंकि वह उससे अपना संरक्षण मानती है और खाली संरक्षण ही नहीं एक ऐसा आत्मीय सम्बन्ध जिसको हाइडेगर 'care' कहकर व्यक्त करने की चेष्टा करता है। यहाँ रिश्ता उल्टा है, मनुष्य की चेतना भगवान पर आश्रित न होकर भगवान उस पर आश्रित दिखाई देते हैं। एक तरह से ये moral consciousness का ही विस्तार है, पर न सन्देह के संदर्भ में, न औचित्य या धर्म के सन्दर्भ में। कुछ-कुछ हम इस बात को इस तरह से समझ सकते हैं कि जब कभी भी हमारा सम्बन्ध किसी भी चीज़ से होता है तो हम उसके प्रति कुछ ऐसा भाव रखते हैं जो हमें पेड़-पौधों, अपने पालतू जानवरों, अपने घर की चीज़ों या अपने बच्चों से होता है। इस सम्बन्ध को एक शब्द से व्यक्त करना असम्भव है। हम उन्हें पालते-पोसते भी हैं, पुचाकारते भी हैं, बड़े भी करते हैं, और पता नहीं क्या-क्या करते हैं पर ये सम्बन्ध हमेशा उसके सत्व को मानकर ही चलता है, नकार कर नहीं।

वस्तुओं के प्रति दूसरी दृष्टि जो साधारणतया सब में है, और जो पेड़-पौधों, जानवरों और जो दूसरे मनुष्यों के प्रति भी होती है, उसको उसने वो नाम दिया जो एक तरह से जाना पहचाना है, और जिसका अर्थ ये है कि हम उनको अपने सुख-सुविधा के सन्दर्भ में ही देखते हैं। उनसे जो हो सकता है या उनसे जो हम पा सकते हैं या उनसे जो हमें मिल सकता है, उसी के सन्दर्भ में, उसी के लिए। इसको instrumental use of all objects of the whole world, all animals, all plants or everything कहा गया है। ये आत्म-केन्द्रित चेतना है जो सारे विश्व को अपने को केन्द्र-बिन्दु बनाकर देखती है। हाइडेगर का कहना था कि 'डा-ज़ाइन' का 'ज़ाइन' से सम्बन्ध इसका उल्टा है, और सारे विश्व की सार्थकता इस सम्बन्ध में उदय होती है, और मिलती है।

इसी बात को शायद मार्सेल ने इस प्रकार से कहने की कोशिश की कि आत्मचेतना पता नहीं क्यों सहज रूप में सारे संसार को अपना विषय ही नहीं मानती, बल्कि अपनी सम्पत्ति, अपनी जायदाद मानती है, उसी प्रकार जैसे वो अपने शरीर को, मन को, बुद्धि को, बार-बार ये कहकर कि ये मेरी है, ये मेरा है। इसी को उसने having, possesion, owning कहा जिससे बड़ा perversion इस relation का नहीं हो सकता।

हाइडेगर, सार्त्र और मार्सेल के बाद योरोपीय दर्शन में दो या कहें तो तीन प्रसिद्ध दार्शनिक पैदा होते हैं। इनमें से दो जर्मनी में थे, और एक फ्रांस में। जर्मनी एक तरह से दार्शनिकों का देश रहा है और पिछले 250 वर्षों में उसने एक से एक महान् दार्शनिक चिन्तक पैदा किये हैं।

हुसर्ल और हाइडेगर के बाद लोग अक्सर गेड़ेमर और हैबरमास का नाम लेते हैं, लेकिन ये कहना मुश्किल होगा कि इनका प्रभाव उतना सर्वव्यापी है जितना कांट से लेकर हाइडेगर तक के दार्शनिकों का था।

गेड़ेमर की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम अंग्रेज़ी में Truth and Method है, और हैबरमास की किताब का नाम Knowledge and Human Interests है।

वैसे तो इन किताबों को लिखे भी करीब-करीब पचास वर्ष तो हो ही गये होंगे, लेकिन दार्शनिकों के चिन्तन का प्रभाव धीरे-धीरे फैलता है, और उनकी दृष्टि तो मुश्किल से ही अन्य दार्शनकों द्वारा अपनाई जाती है।

गेड़ेमर ने ये सवाल उठाया कि आखिर जिसे हम truth कहते हैं, उसको पता लगाने की कहानी क्या है। इसको अंग्रेज़ी में इस तरह से कह सकते हैं, "Does knowldge have a history of its own." और अगर ऐसा है तो फिर उसके उस दावे का क्या होगा जो वो हमेशा करती है कि वह 'सच' है।

यहाँ एक और बात ध्यान देने योग्य है। गेड़ेमर शायद ये कहने की कोशिश कर रहा है कि ज्ञान की सत्यता के बारे में जो दार्शनिकों में चर्चा है वो ज़्यादातर 'प्रमाण' की चर्चा है या जिसको अंग्रेज़ी में 'Justified true belief' कहा गया है और जिसको Justification की समस्या से जोड़ा गया है। गेड़ेमर का कहना था कि ज्ञान और सत्य के बारे में इस प्रकार की बात करना उसके ऐतिहासिक पक्ष को बिल्कुल ही भुला देता है। सत्य को जानने की प्रक्रिया काल में होती है और उसका एक ऐतिहासिक पक्ष है जो स्वयं में कुछ इस प्रकार का है कि जिसकी ओर ध्यान देने पर आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रहा जायेगा।

आखिर ज्ञान तो भाषा में होता है और सत्य का दावा भी भाषा के द्वारा ही किया जाता है और इस दावे के इतिहास से बात अनिवार्यत: भाषा के इतिहास से जुड़ी होती है, क्योंकि जो कुछ पहले ज्ञान के रूप में उपस्थित किया गया था, वो अनिवार्यत: भाषा में ही आबद्ध है और इसलिए ज्ञान के इतिहास को समझना कोई उस प्रकार की बात नहीं है, जो हम जड़ वस्तुओं के बारे में बात करते हैं। ध्यान से देखें तो उनके 'ज्ञान' की भी कहानी वही है और इस तरह ज्ञान या सत्य के मूल में ही भाषा को ज्ञान के सन्दर्भ में समझना ज़रूरी हो जाता है, और ये 'समझ' स्वयं ऐतिहासिक होती है।

इस बात को समझने के लिए दार्शनिक चिन्तन की ऐसी विधा को समझना होगा, जो समझने की प्रक्रिया में भाषा को फिर केन्द्र में लाती है, पर उस तरह से नहीं जैसा कि मूर, रसल, विट्गेन्सटाइन, ऑस्टिन और राइल ने किया था, न ही

वैसा जैसा कार्नेप ने करने की कोशिश की थी। इन लोगों का कहना था कि भाषा को उस तरह समझा ही नहीं जा सकता जिस तरह से ये लोग समझने की कोशिश कर रहे हैं और उन्होंने भाषा को समझने की इस नयी दिशा का नाम Hermaneutics दिया।

Hermaneutics अजीब चीज़ है। वो भाषा के केन्द्र में अभिधा को न रखकर, लक्षणा और व्यंजना को रखती है। Paul Ricouer की प्रसिद्ध पुस्तक The rule of Metaphor इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि भाषा का प्राण गणित नहीं है, न ही वो जो भौतिकी में प्रकट होता है, पर वो जिसका दर्शन हमें काव्य में मिलता है। कविता ही हमें बताती है कि भाषा क्या है और कविता को 'समझना' कुछ और तरह का समझना है और अगर इस तरह से 'समझने' को दार्शनिक प्रक्रिया का केन्द्र-बिन्दु बना दिया जाये तो फिर सोचिये दर्शन का क्या होगा। एक तरह से तो सार्त्र और हाइडेगर दोनों का विचार साहित्य-केन्द्रित था। हाइडेगर का तो खासतौर पर क्योंकि उसने Holdsnlir की कविताओं पर लिखा भी था, और उनसे प्रभावित भी हुआ जो चरम सत् है, या जिसे 'Being' कहते हैं, उसकी आवाज कविता में सुनाई देती है, कुछ 'गूँज' की तरह या भारतीय सन्दर्भ में कहें तो 'ध्वनि' की तरह। ऐसा हाइडेगर ने कहा है, और एक तरह से वेद के मंत्रों के बारे में भी यही कहा जाता है,''अर्थ को मत ढूँढ़ो, अर्थ में जो ध्वनित होता है, उसको ध्यान से सुनो और उसमें डूबने की चेष्टा करो या कहें तो आत्मसात करने की, उससे तादात्म्य पाने की।''

इन लोगों का दर्शन इस तरह से उसके बिल्कुल विपरीत है, जो Cambridge और Oxford में हो रहा था और ये समझना कि ये दोनों दार्शनिक चिन्तन करीब-करीब एक ही समय में हो रहे थे, समझ के बिल्कुल बाहर है।

धीरे-धीरे योरोपीय दर्शन का ध्यान कांट के बाद दर्शन की जो कहानी है उससे हटकर कहीं और जा रहा था। यही नहीं, एक तरफ कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के दार्शनिकों ने चरम सत् से सम्बन्धित वाक्यों को बिल्कुल अर्थहीन या अर्थशून्य बताकर उन्हें दर्शन से बिल्कुल बाहर निकाल दिया था तो दूसरी ओर हुसर्ल ने और जिन्हें Existentialist कहा जाता है, उन दोनों ने मिलकर एक तरह बुद्धिनिष्ठ तर्क को दर्शन के क्षेत्र से बिल्कुल बाहर कर दिया और दूसरी ओर उन्होंने भाषा को इस प्रकार देखना प्रारम्भ किया जिसकी अपनी अलग कहानी है, क्योंकि अन्ततोगत्वा या तो वो इस नतीजे पर पहुँचे कि 'अर्थ' जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं है या जिसकी जो मर्जी आये वो उस अर्थ को मान सकता है या अर्थ स्वयं में आत्मविरोधी है और भाषा का रूप स्वयं में यही है कि वो जो भी कहती है, उसको नकारती ही नहीं, उसको मिटाने की भी चेष्टा करती है। ये सब बात Derrida कहेगा, और वो लोग जिन्हें हम Post-mordenist कहते हैं जिनकी कुछ चर्चा हम आगे करेंगे।

हैबरमास के विचार को समझने के लिए हमें योरोप के इस सारे दार्शनिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखना होगा और इसी को नहीं, मार्क्स और फ्रॉयड को, जिन्होंने दार्शनिक चिन्तन को मूलभूत चुनौतियाँ दी थीं।

मार्क्स ने सारे मानवीय ज्ञान के मूल में एक उस अविद्या, अज्ञान या भ्रान्ति की बात की थी जिसके अनुसार मनुष्य का ज्ञान एक ऐसे परिप्रेक्ष्य में होता है जहाँ मनुष्य-मनुष्य में वो छिपा हुआ भेद जो समाज के मूल में है, ज्ञान की दृष्टि को निर्धारित करता है। यह मनुष्य का ज्ञान इस तरह निरपेक्ष न होकर उस समाज व्यवस्था के मूल भेदों पर आधरित होता है जिसका एक स्रोत उस सामूहिक कर्म में है जो एक तरफ मनुष्य को उन दो वर्गों में बाँटता है जिनमें से एक तो मेहनत, मजदूरी, मशक्कत करते हैं, और दूसरे जो उस व्यवस्था को बनाते हैं और बनाये रखने में लगे रहते हैं। एक तरह से ये भेद तब से स्पष्ट रूप में आरम्भ होता है, जब से मनुष्य ने अपने जीने के लिए खेती करना आरम्भ किया और उस तरह के रहने को छोड़ा जो जानवरों के शिकार पर आश्रित था और भेड़-बकरियों के पालने पर। दूसरी ओर वो वर्ण-भेद था जो पढ़ने-लिखने से उत्पन्न हुआ और जिसमें जो पढ़-लिख सकते थे उनमें और जो पढ़-लिख नहीं सकते थे उनमें ऐसा भेद उत्पन्न हुआ कि पढ़ने-लिखने वालों का प्राधान्य माना ही नहीं जाने लगा, बल्कि वे ही संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक होने लगे।

इस सबको चलाने के लिए समाज-व्यवस्था ने एक नई दिशा ली, जिसमें वे लोग जो राज्य करते और वे जिन पर राज्य किया जाता, इन दोनों में ऐसा संरचना-आश्रित भेद था जिसके बारे में कुछ ज़्यादा किया ही नहीं जा सकता था। दूसरी ओर पढ़ने-लिखने का काम इतना आसान नहीं था और उसमें जो लोग लगे रहते थे, उनका एक विशेष वर्ग बना जिसे भारतीय परम्परा में 'ब्राह्मण' कहा गया और चीनी परम्परा में mandarin.

मार्क्स के अनुसार हाथ-पैर या अपने शरीर की मेहनत-मशक्कत से पैदा करके जो काम करते थे, वे ही खाद्य और उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादक थे और उन्हीं से जबरदस्ती जो वो पैदा करते थे, उसको उन्हें पूरी तरह उपभोग करने नहीं दिया जाता था। इसके भी मूल में ये था कि आखिर अन्न और जो भी खाने-पीने की चीज़ें हैं या जिनसे कपड़ा,मकान आदि बनते हैं, वे तो वही लोग उत्पन्न करते थे, पर जो लोग राज्य करते थे या पढ़ने-लिखने में लगे रहते थे, उनको भी तो अन्न और अन्य उपभोग की वस्तुओं की ज़रूरत थी, हालांकि वे उनको अपनी मेहनत से उत्पन्न नहीं करते थे।

मार्क्स ने इस आधार पर ये कहने की चेष्टा की कि अभी तक जितनी संस्कृति-सभ्यताएँ हुई हैं वे इसी मूल अन्याय पर आधारित हैं और जो सोचने-लिखने वाले हैं, उन्होंने हमेशा ज्ञान को उस दृष्टि से देखा जो उनके अपने लिए और शासक वर्ग को फायदा पहुँचाने वाला था। अगर हमें वास्तव में ऐसे ज्ञान

को प्राप्त करना है जो असल में सच हो तो वो ऐसे समाज में ही हो सकता है, जहाँ न राजा और प्रजा में भेद हो, न शासक और शासित में, न ब्राह्मण और अब्राह्मण में। जब तक ऐसे समाज की रचना नहीं होगी, तब तक ज्ञान एकांगी ही रहेगा और उसकी दृष्टि हमेशा उस अज्ञान या अविद्या से ग्रसित होगी जो अधिकतर लोगों को, चाहे उन्हें शूद्र कहा जाये या दास। उन्हें बन्धुआ मजदूर की तरह रखते हैं, और रखते ही नहीं, उनमें ये भी भावना उत्पन्न करते हैं कि उनका वैसा होना ठीक ही है, और जो व्यवस्था है, वो हमेशा से ऐसी ही थी और और ऐसी ही रहेगी।

दूसरी ओर फ्रॉयड़ ने ये कहने की कोशिश की कि मनुष्य का ज्ञान जिसे वो अपनी बुद्धि के द्वारा अर्जित मानता है वो वास्तव में उस प्रक्रिया का बहाना मात्र है जो उसके अपने स्वार्थों को नि:स्वार्थ होने का ढ़कोसला या नकाब पहनाने की कोशिश करती है। इसको उसने अपनी प्रसिद्ध उक्ति में कहा कि Reason is rationalisation और इस तरह से उसने मार्क्स की ही तरह बुद्धि को उस रूप में देखा जहाँ वो ज्ञान की बात करने का बहाना करती है, और करती है, कुछ और।

फ्रॉयड और मार्क्स की कहानी इससे कहीं अधिक जटिल और लम्बी है पर हैबरमास के परिप्रेक्ष्य में इससे अधिक यहाँ कहने की ज़रूरत नहीं है।

हैबरमास ने अपनी पुस्तक का नाम ही दिया Kowledge and Human interests। नाम से ही स्पष्ट होता है कि वो ये मानता है कि मनुष्य के ज्ञान का मतलब उसकी अपनी जीने की मजबूरियाँ हैं, वो 'जीना' जो मनुष्य, मनुष्य के रूप में करता है और कर सकता है। मनुष्य का 'जीना' जानवर की तरह तो है नहीं और अगर हम इस बात को समझ लें तो ये भी समझेंगे कि मनुष्य का ज्ञान ही मनुष्य को मनुष्य के अनुसार जीने का आधार देता है और इस जीने की प्रक्रिया में ही वो उत्पन्न होता है। पर ये ज्ञान कोई व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान नहीं है और न ये ज्ञान कोई ऐसा ज्ञान है जो हमेशा के लिए एक दफ़ा पाया जाता है और अगर इस बात को ध्यान में रखा जाये तो ज्ञान के तीन पक्ष एकदम समझ में आ जायेंगे। एक ओर उसका सम्बन्ध उस सबसे है जो मनुष्य को मनुष्य होने के लिए ज़रूरी होता है; दूसरी ओर ज्ञान का सम्बन्ध हमेशा कर्म से होता है, क्योंकि कर्म में ही उसकी सार्थकता का पता चलता है। कर्म के द्वारा ही मनुष्य जीता है। ज्ञान उस कर्म का आधार जरूर है पर खाली ज्ञान से कोई नहीं जीता, न कोई जी सकता है। ज्ञान का तीसरा पक्ष जिसकी ओर हैबरमास इशारा करता है कि ये ज्ञान मनुष्य जाति का ज्ञान है और मनुष्य जाति की ऐतिहासिकता ही ज्ञान की ऐतिहासिकता है।

पर मनुष्य क्या है? वो केवल वैसा प्राणी नहीं है जैसे अन्य प्राणी हैं। उसकी ज़रूरतें केवल खाने-पीने या हवा-पानी तक ही महदूद नहीं रहतीं। वो तो बहुत कुछ बनाता है, सोचता है, कविता करता है, गाता है और अपने हर भाव को, हर विचार को अभिव्यक्त करता है और उस अभिव्यक्ति को बनाये रखने की कोशिश करता है। परम्परा इसी से उत्पन्न होती है और संस्कृति इसी से बनती है और मनुष्य जाति जिसको मिलकर बनाती है उसको समझने की भी कोशिश करती है

और ज्ञान का ये भी एक आयाम है। ज्ञान का आयाम केवल प्रकृति को समझना नहीं है। हालांकि ये ठीक है कि प्रकृति को समझे बगैर आदमी ज़िन्दा ही नहीं रह सकता और इसलिए मनुष्य 'ज्ञान' प्रधानत: उसी को कहता है जो प्रकृति का होता है और जो उसे जीने में सहायक होता है।

एक तरह से मनुष्य जाति के अर्जित किये हुये ज्ञान की परम्परा को रखना और उसे समझना भी ज्ञान की प्रक्रिया का उतना ही अनिवार्य अंग है जितना कि अपनी बनाई हुई चीज़ों को बनाये रखना और उनको समझना और समझने की प्रक्रिया पर चिन्तन करना।

हैबरमास ने ज्ञान के इन दो पक्षों को प्रकृति और संस्कृति का नाम दिया और इनकी जड़ें मनुष्य के स्वयं के स्वरूप और स्वभाव में मानीं और इसको मनुष्य जाति के पुरुषार्थ के रूप में देखा और उसकी ऐतिहासिकता की ओर ध्यान दिलाया।

पर उसका विचार इन दो पक्षों तक ही सीमित नहीं रहा। उसने ज्ञान के एक ऐसे तीसरे पक्ष को उजागर करने की कोशिश की, जहाँ ज्ञान न प्रकृति के सन्दर्भ में उत्पन्न होता है न संस्कृति के सन्दर्भ में, बल्कि उस चेतना के सन्दर्भ में जो अपने चारों ओर देखती है और उसे लगता है कि जो है वो ठीक नहीं है, न्यायोचित नहीं है, अन्याय है, उसको हटाना है, खत्म करना है, उसमें सुधार लाना है। ये ज्ञान का नया पक्ष है और ये अन्य प्रकार के कर्म को जन्म देता है, जिसे हम Reformist या Revolutionary action कह सकते हैं। उसने इसे Emancipatory Knowledge कहा और यही वो ज्ञान है जो समाज-व्यवस्था से, अर्थव्यवस्था से, राज्य-व्यवस्था से असन्तुष्ट रहता है और उसमें ऐसा परिवर्तन लाने का सतत प्रयास करता है जहाँ न्याय अधिक हो और अन्याय कम।

हैबरमास के चिन्तन में मनुष्य के ये तीन आयाम हैं और मनुष्य का ज्ञान इन्हीं तीन के बीच उत्पन्न होता है। इन तीनों ज्ञानों के बीच क्या सम्बन्ध है, इसकी चर्चा उसने नहीं की।

हैबरमास योरोप का प्रसिद्ध दार्शनिक था और जर्मनी के फ्रैंकफर्ट स्कूल से सम्बन्धित था, जिसने दूसरे महायुद्ध के बाद जर्मनी में एक नये प्रकार के समाज और राज्य सम्बन्धी चिन्तन की शुरुआत की थी, जिसकी जड़ें मार्क्स की विचारधारा में थीं लेकिन वहाँ होते हुए भी, हैबरमास ने एक स्वतन्त्र विचारधारा की स्थापना की और इसके लिए वो प्रसिद्ध भी हुआ। लेकिन जो प्रसिद्धि Derrida को प्राप्त हुई वो अभूतपूर्व थी और उसके सामने शायद किसी भी योरोपीय चिन्तक को इतनी प्रतिष्ठा नहीं मिली जितनी कि उसे मिली थी।

ये बात अपने में आश्चर्यजनक है, क्योंकि हैबरमास, हाइडेगर और गेड़ेमर जैसे जर्मन दार्शनिकों के सामने जिन्होंने इतना कुछ कहा था, Derrida जिसने एक तरह से कुछ नहीं कहा, और यहाँ तक कहा कि कुछ नहीं कहा जा सकता, उसकी इतनी प्रतिष्ठा और ख्याति कैसे फैली। जर्मनी की ही बात नहीं, फ्रांस के

दार्शनिक चिन्तकों के साथ भी उसके प्रभाव का मुकाबला करना मुश्किल है। मार्सेल जैसे गहरे विचारक की भी कोई खास प्रतिष्ठा नहीं हो पायी।

इसका एक कारण ये हो सकता है कि फ्रांस ने एक ऐसी नई विचारधारा को जन्म दिया था जो साहित्य और अन्य कलाओं में धीरे-धीर अपनी दृष्टि को स्थापित कर चुकी थी। दर्शन की बात करते समय इसकी चर्चा नहीं की जाती लेकिन जब तक फ्रांस में साहित्य, कविता और कला के क्षेत्र में जो हो रहा था, उसका अगर किसी को आभास न हो तो वो इस दार्शनिक चिन्तन के प्रभाव को समझ ही नहीं सकता। सार्त्र और Camus के उपन्यासों और नाटकों ने एक ऐसा संमा बाँध दिया जिसमें शायद ही कोई चीज़ ऐसी थी जिस पर शक न किया हो, या ऐसा विश्वास जिसे तोड़ा न गया हो। कैमू के प्रसिद्ध उपन्यास 'प्लेग' में मनुष्य की दशा का जो वर्णन है, वो एक ओर जहाँ दार्शनिक था वहीं दूसरी ओर मनुष्य के भाव जगत् और कर्म जगत् से ऐसा जुड़ा हुआ था कि जिसके बारे में कुछ भी कहना मुश्किल है।

ये ठीक है कि नीत्शे पहले ही सब कुछ कर चुका था पर इन लोगों ने साहित्य के माध्यम से किया और इसके बाद जिसे Theatre of the Absurd कहते हैं जिसमें Becket और Ionescu के नाम मशहूर हैं। उन्होंने इस stage पर सार्त्र और कैमू के विचारों को मूर्त रूप में प्रस्तुत किया और आदमी से ये कहने की कोशिश की कि देखो, तुम्हारी अवस्था क्या है। तुम उस असाध्य रोग से ग्रसित हो जिसका कोई इलाज नहीं है। प्लेग के फैलने के ड़र से तुम कितने ही quarantine करो, कितना ही उनको अलग-थलग करके रखो, छुआछूत तो लगेगी ही और तुम अपने को बचा नहीं पाओगे।

यही नहीं, ये हाल चित्रकारों का भी था, कवियों का भी और बहुत से अन्य लोगों का भी। पिकासो, शागाल और डाली के नाम प्रसिद्ध हैं जिन्होंने सौन्दर्य को कला के क्षेत्र से निष्कासित किया और कहा कि कला का सौन्दर्य से कोई ताल्लुक नहीं है। यही नहीं, बहुत सारे कवि जिनमें Mallarme Baudelaire का नाम प्रसिद्ध है, उन्होंने भी इस वातावरण को बनाने में सहायता की जहाँ बुद्धि का, Reason का, तर्क का, युक्ति का कोई स्थान ही नहीं था। जो जितना अधिक पागल दिखाई देता था, उसकी उतनी ही अधिक ख्याति होती थी। इस पागलपन के पीछे जो संयम थे जिसके बगैर कोई कृति हो ही नहीं सकती, उसकी ओर लोगों का ध्यान बिल्कुल ही नहीं गया और जिसको वो तोड़ने के सतत् प्रयास में थे उसकी ओर ही उनका ध्यान केन्द्रित हुआ।

इस माहौल में Derrida का विचार उत्पन्न होता है और उसको इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। Derrida का चिन्तन पूर्णरूपेण Negative था क्योंकि उसके अनुसार कोई ऐसी बात कही ही नहीं जा सकती जो अपने शुद्ध रूप में केवल यही कहे कि यह है और इसका जो विरोधी है वो नहीं है।

एक तरह से ये बात हेगेल पहले कह चुका था और जिसको कान्ट ने Infinite Judgement कहा था उसमें भी ये बात परिलक्षित होती है, और बौद्धों ने जो अपोह का सिद्धान्त स्थापित किया उसमें भी इसकी ध्वनि मिलती है, लेकिन जो Derrida कहने की कोशिश कर रहा था वो इनसे कुछ अलग है। शायद उसे भाषा के स्वरूप पर विचार करने से कुछ-कुछ समझा जा सकता है। भाषा स्वयं कुछ ऐसी है कि वो न कुछ कह सकती है और न उसका निषेध ही कर सकती है। भाषा में भेद अनिवार्य है, और इस भेद को नकारना भी। ये शब्द में ही परिलक्षित होता है। शब्द स्वयं वर्णों के इकट्ठा होने से बनते हैं और वाक्य शब्दों से मिलकर बनते हैं। पर पहले तो प्रत्येक वर्ण समूह शब्द को उत्पन्न नहीं करता, दूसरे शब्दों का हर एक विन्यास या क्रम वाक्य को उत्पन्न नहीं करता, तीसरा अगर शब्द विन्यास से वाक्य बनता भी है, तो भी एक शब्द और दूसरे शब्द में फासला रहना, चाहे लिखने में हो या बोलने में, अनिवार्य होता है, यही बात :(Colon),, (Comma),; (Semi colon) और। (Fullstop) के बारे में भी है; अगर ऐसा न हो तो न कुछ बात बन सकती है न कुछ कही जा सकती है।

ये ठीक है कि जेम्स जॉयस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Ulysses के आखिरी अध्याय में एक ऐसे अनन्त वाक्य की रचना की जिसमें न, (comma) था न . (Full stop) पर फिर भी जिसके द्वारा अर्थ व्यंजित होता है पर उस अर्थ में विचार का कोई स्थान नहीं था। केवल एक स्वप्न जैसा भाव-प्रवाह जो मनुष्य की चेतना में होता रहता है, और जिसमें न कोई दिशा होती है न कुछ कहने की आकांक्षा और न कोई प्रयोजन।

यही नहीं, कोई भी जो लिखता है वो हमेशा ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिन पर अगर ध्यान दिया जाये तो वो जो कह रहा है, उसको सीमित ही नहीं कर रहा बल्कि नकार भी रहा है और उस पर सन्देह भी कर रहा है। कितने वाक्य 'लेकिन' या 'but' से शुरू होते हैं, या 'However' से, या 'Perhaps' से, या 'may' से। उन पर कोई ध्यान दे तो ये पूछे बगैर नहीं रहेगा कि आखिर आप कहना क्या चाहते हैं और अगर आपको अपने कहने के बारे में इतना शक है तो फिर कहकर हमारा समय क्यों बर्बाद करते हैं।

यही नहीं, अगर पुस्तकों के स्वरूप की ओर ध्यान दें तो वो कुछ अजीब सी लगेंगी। कितना लिखने के बाद आदमी 'Preface' लिखता है, Introduction लिखता है, जैसे उसने जो कुछ कहा है वो स्पष्ट नहीं है। अब उसको और स्पष्ट करता है। Derrida ने इन सब बातों की ओर ध्यान दिलाया और ये कहने की कोशिश की कि कुछ कहना वास्तव में असम्भव है। हाँ, इसका आभास मात्र ज़रूर हो सकता है, और बुद्धि जो निश्चितता का दावा करती है या कहती है कि ऐसा है और तर्क या युक्ति के द्वारा इसी को सिद्ध करने की चेष्टा करती है, उसके मूल में ही यह भूल है कि ऐसा किया जा सकता है।

पर Derrida के पास अपना कुछ कहने को नहीं था, उसने जो कुछ कहा वो इसी बात को बार-बार दोहराने की कोशिश थी कि जो समझते हैं कि कुछ कहा जा सकता है, वो भ्रम में हैं। उसके कहने का अगर कोई मतलब निकाला जा सकता है तो वो यही है कि The enterprise of philosophy is impossible in principle और एक तरह से ये दर्शन की आत्महत्या ही थी।

इसके दूरगामी परिणाम इतने भयानक हुये जिनका Derrida को स्वप्न में भी खयाल न था। अगर आदमी सोच ही नहीं सकंता, कुछ कह ही नहीं सकता तो फिर आदमी, 'आदमी' कैसे रहेगा। अपने आखिरी दिनों में Derrida को यह महसूस हुआ कि उसने जो लिखा था, कहा था, उसका परिणाम उसे चारों तरफ दिखने लगा। इससे उसे लगा कि कहीं कोई मूलभूत गलती रह गई। हालांकि यह निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता कि ऐसा उसकी बुद्धि ने देखा या उसके उस भाव-पक्ष ने जो उसके चारों तरफ हो रहा था उससे असन्तुष्ट। उसकी आखिरी पुस्तक जिसका नाम इतना अजीब है कि उसको समझना मुश्किल है The Eye of the University : the Right to Philosophy। वो ये भूल गया कि इस 'Right' के नष्ट करने में उसका ही जो हाथ था, उसका कोई जवाब नहीं था।

❑

बुद्धिनिष्ठ ज्ञान की पश्चिमी परम्पराएँ : इतिहास और समस्याएँ

बुद्धि की बात करते ही ऐसा लगता है कि हम किसी ऐसे साधन या शक्ति की बात कर रहे हैं जो हमें हमेशा उस सत्य को प्राप्त करा सके जो चिरंतन है, सार्वदेशिक है और सार्वकालिक। यह भ्रम ग्रीस में उत्पन्न हुआ था जो 2500 वर्ष पहले यूनान के नाम से जाना जाता था और तब से पश्चिम का विचार इससे ग्रसित है। इससे ज़्यादा आश्चर्य की बात क्या होगी कि 2500 साल के बाद भी आज मनुष्य यह विश्वास करता है कि बुद्धि उस सत्य को पकड़ने में मदद कर सकती है जो 'हमेशा' सच होगा।

यूनान में यह बात गणित के ज्ञान पर चिंतन से उत्पन्न हुई थी। 2 और 2 चार होते हैं, इससे बड़ा सत्य क्या होगा जो संदेह से परे है, और सब देश काल में सत्य है और इसका ज्ञान बुद्धि से ही होता है। उस समय के ज्ञान की चर्चा इस विशेष उपलब्धि से हुई थी, और यह बात जब तक हम नहीं समझेंगे, पश्चिमी विज्ञान और दर्शन के इतिहास में बुद्धि की महत्ता और उस पर अडिग विश्वास को भी नहीं समझ पायेंगे। यह विश्वास कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी कहानी अजीब है। ज्यॉमैट्री या रेखागणित की बात पर जब तक ध्यान नहीं दिया जायेगा तब तक इस बात को समझा नहीं जायेगा। रेखा क्या होती है? उसकी परिभाषा ही यह है कि उसमें केवल 'लंबाई' होती है, और वे बिंदु जिनसे रेखायें बनती हैं, उसकी परिभाषा यह है कि न लंबाई होती है न चौड़ाई, न मोटाई। अब ज़रा सोचिये कि क्या ऐसी लकीर कभी खींची जा सकती है, या वास्तव में हो सकती है, जो केवल लंबी हो, मोटी नहीं। बिंदु या पॉइंट की बात करना तो इससे भी ज़्यादा अजीब है जो भी आप बनायेंगे वो कितना छोटा क्यों न हो उसका आकार तो होगा ही।

गणित का जगत् कल्पना का जगत है, बुद्धि की कल्पना का जिसमें सब कुछ सोचा जा सकता है। जहाँ उस सोचने पर केवल एक अंकुश है, जो सोचा जाये उसमें अंतर्विरोध न हो। बस बुद्धि की एक ही शर्त थी, संसार को समझने, जानने के लिए, वह कुछ भी सोच सकती है, लेकिन उस शर्त के भीतर, और